प्रकाशक :
भारती भवन, पटना-४

मुद्रक :
श्री भुवनेश्वरी प्रसाद सिन्हा,
नयन प्रिंटिंग प्रेस, पटना-८

प्रथम संस्करण : जून, १९६३

मूल्य : २·५०

नयी पीढ़ी के प्रबुद्ध चिन्तक

डा० नामवर सिंह

को

विषय-क्रम

पृष्ठ

पहला अध्याय

हिन्दी आलोचना का आरम्भ— संस्कृत आलोचना और रीतिकालीन हिन्दी आलोचना का स्वरूप, भारतेन्दुकालीन परिस्थितियाँ, प्राचीनता और नवीनता का संयोग, हिन्दी आलोचना का प्रारंभिक रूप, मुख्य आलोचक—भारतेन्दु, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट। .. ३-१०

दूसरा अध्याय

विकास-युग (निर्णयात्मक समीक्षा)— तत्कालीन परिस्थितियाँ, पुनरुत्थानवादी स्वर, दो धाराएँ—आधुनिकतावादी और रीतिवादी, तत्कालीन समीक्षा का स्वरूप, मुख्य आलोचक—महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, नवीन प्रवृत्तियों के अन्य आलोचक, पद्मसिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवान दीन, बालमुकुन्द गुप्त। .. १३-२३

तीसरा अध्याय

उत्कर्ष युग (व्याख्यात्मक समीक्षा) प्रथम उत्थान— आलोचना की नयी दिशा, प्रमुख धाराएँ, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनकी समीक्षा, नयी परिस्थितियाँ, शुक्लजी के समीक्षा-सिद्धांत और उनकी कृतियाँ, डा० श्याम सुन्दर दास, पदुम लाल पुन्ना लाल बख्शी, आचार्य शुक्ल की परंपरा और उसके प्रमुख आलोचक—गुलाब राय, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पांडेय, लक्ष्मी नारायण सुधांशु। .. २७-४०

चौथा अध्याय

द्वितीय उत्थान (स्वच्छन्दतावादी आलोचना)— परिस्थितियाँ, नयी परिस्थितियों के कारण नये प्रकार के साहित्य

पृष्ठ

(छायावादी साहित्य) का प्रादुर्भाव, नये साहित्य पर आधारित स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का स्वरूप—आत्मानुभूति की प्रधानता, कल्पना की अतिशयता, सौन्दर्य-दृष्टि साहित्य का उद्देश्य, मुख्य आलोचक—नन्द दुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रा नन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा। .. ४१–६१

पाँचवाँ अध्याय

तृतीय उत्थान (प्रगतिवादी आलोचना)— परिस्थितियाँ, मार्क्सवादी दर्शन, हिन्दी में प्रगतिशील आन्दोलन, प्रगतिवादी साहित्य की रचना, उस पर आधारित प्रगतिवादी आलोचना का स्वरूप—नवीन यथार्थवादी दृष्टि, नवीन विषय, नवीन सौन्दर्य बोध, साहित्य की नवीन व्याख्या, प्रमुख आलोचक—शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त। .. ६२–७१

छठा अध्याय

चतुर्थ उत्थान (मनोविश्लेषण और साहित्य पर उसका प्रभाव)— साहित्य की प्रेरणा, मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित समीक्षा का स्वरूप, प्रमुख आलोचक—इलाचन्द जोशी, नगेन्द्र, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन। . ७२–८२

सातवाँ अध्याय

पंचम उत्थान (स्वच्छन्द समीक्षा)— स्वच्छन्द समीक्षा का स्वरूप, इसके प्रमुख आलोचक—देवराज, नलिन विलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे, कृष्णशंकर शुक्ल, केसरी नारायण शुक्ल, सत्येन्द्र। ८३–८९

आठवाँ अध्याय

विविध— हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा शोध समीक्षा। . ९३–९६

उपसंहार— हिन्दी आलोचना की नवीनतम दिशा। . ९९–१०४

भूमिका

आलोचना के विभिन्न स्वरूप

जीवंत साहित्य सदैव गतिमान होता है। जीवन की नयी चेतना को स्वर देने वाले साहित्य को सर्जन की नयी समस्याओ और प्रयोग की अवस्थाओ से गुजरना होता है। जागरूक सर्जक नये जीवन-सत्यो की प्रतीति को अभिव्यक्ति देने के लिए नये-नये द्वार खोलता है, वह जीवन के नये मान और दायित्व को समझता है और भाव तथा सौन्दर्य-बोध के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तर तक अपने समूचे व्यक्तित्व के साथ पहुँचता है। अत उसकी कृति का परम्परागत कृतियों से एक अलग ही स्वरूप होता है। आलोचक का मुख्य कार्य होता है इन नवीन कृतियो का उनके सम्यक् परिवेश में अध्ययन और मूल्यांकन करना। आलोचक के मूलत तीन कार्य होते है—(१) साहित्य-सिद्धान्तो की स्थापना करना, (२) साहित्य की व्याख्या करना, (३) साहित्य का मूल्यांकन करना।

साहित्य-सिद्धान्तो की स्थापना करने वाली आलोचना को सैद्धान्तिक आलोचना कहते है। हर प्रकार की रचना के सर्जन की कुछ प्रक्रियाएँ होती है, उनका कुछ उद्देश्य होता है, उनके कुछ आधारभूत नियम होते है जो युगीन प्रयोगो से विकसित होते चलते है। सैद्धान्तिक आलोचना साहित्य के इन्हीं नियमो का अध्ययन करती है, उन्हें एक सुव्यवस्थित रूप में सामने रखती है और उन नियमों के आधार पर, निर्मित होने वाले साहित्य का नियमन और मार्ग-निर्देशन करती है। आलोचना का प्रमुख कार्य सर्जक का मार्ग-निर्देशन और सर्जक तथा पाठक के बीच सेतु निर्माण करना है। जो आलोचना सचमुच इन दो उद्देश्यों से प्रेरित होकर आगे बढ़ती है वह सर्जन की मौलिक प्रक्रियाओं, कठिनाइयो, और उसे प्रभावित करने वाले अनेक तत्वों का विश्लेषण करती हुई मूल कृति की वास्तविक छवि तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करती है। साहित्य-निर्माण कोई यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है, इसके मूल में साहित्यकार का जीवित व्यक्तित्व होता है जो परम्परा और सामूहिकता की धरोहर को स्वीकार करता हुआ भी अपने निजीपन को अलग नहीं कर सकता। वह व्यक्तित्व ही वह माध्यम है जिसके जरिये युग, समाज की सारी वास्तविकता साहित्य में आकार पाती है। अतः साहित्यकार

की उस निजता की (मौलिकता की) उपेक्षा करके यांत्रिक नियमो की स्थापना करना साहित्य के क्षेत्र में उपादेय नही। रूढ़, स्थिर यांत्रिक नियम साहित्य की प्रगति के मापक और निर्देशक दोनो नहीं हो सकते। इसलिए साहित्य में नित नवीन नियमो के निर्माण की आवश्यकता बनी रहती है। ये नियम या सिद्धान्त हमें नित नवीन साहित्य को समझने में सहायक होते है। मनोविश्लेषणवादी या प्रगतिवादी साहित्य को रसवादी या अलंकारवादी या ध्वनिवादी दृष्टिकोण से नहीं समझा जा सकता। इन साहित्यों को समझने के लिए इन्हीं पर आधारित नियमो के निर्माण की आवश्यकता थी, वे नियम बने। या यो कहिए कि जिन नये नियमो के आधार पर इन नये साहित्यों की रचना हुई उन्हें सुव्यवस्थित रूप में सामने रखने की अपेक्षा थी।

सैद्धान्तिक आलोचना नियमन भी करती है किन्तु नियमन उसका मुख्य उद्देश्य नही है। मूल्यों की दृष्टि से हीन दृष्टिगत होते हुए साहित्य के नियमन की आवश्यकता होती है। जब आलोचक को ऐसा अनुभव होता है कि साहित्यिक स्वच्छन्दता के नाम पर ऐसी कृतियो का निर्माण हो रहा है जिनमें जीवन-मूल्यों और साहित्यिक मूल्यो की उपेक्षा हो रही है, प्रयोग के नाम पर असुन्दर उच्छृंखलता का प्रसार हो रहा है, रचना-सौष्ठव की सारी मान्य धारणाओं को तिलांजलि देकर भोंड़ी अभिव्यक्ति प्रणाली सिर उठा रही है, कला के नाम पर जगत्-जीवन-विच्छिन्न रचनाएँ स्वयं को स्थापित करने के लिए हो-हल्ला मचा रही है तो वह साहित्य का नियमन और अनुशासन करने के लिए सामने आता है, वह साहित्य के नाम पर निर्मित होने वाले कूड़े-कचरे को भर्त्सना करता है, साहित्य के बने-बनाये सिद्धान्तो को आगे रखकर दंड-विधान करता है और अपनी शक्ति भर इस प्रकार के अतिचारी साहित्य पर नियंत्रण रखता है। किन्तु यह नियमन भी स्वयं में एक बड़ा जटिल कार्य है। नियमन के लिए आलोचक में सद् और असद् साहित्य की परख का उन्नत विवेक होना चाहिए। उसे अपने विवेक, सहृदयता और कला-संस्कृत दृष्टि से समझना चाहिए कि वास्तव में कौन-सी चीज नयी है और कौन-सी चीज नयी के नाम पर मात्र तमाशा है, कौन-सी चीज साहित्यकार की मौलिकता और उन्नत व्यक्तित्व का स्पर्श पाकर सौन्दर्य के नये आयाम उद्घाटित करती है और कौन-सी रचना मौलिकता के नाम पर रचनाकार की स्वेच्छाचारिता का उन्मुक्त विलास है। इस विवेक के अभाव में आलोचक या तो पुराने साहित्य-सिद्धान्तो से नये साहित्य का नियमन शुरू करता है या अपनी रुचि-अरुचि को प्रधान मानकर किसी वाद, धारा

या कवि को उत्कृष्ट-निकृष्ट कहकर उनका अनुशासन करना चाहता है। उदाहरण के लिए देखे तो पायेंगे कि द्विवेदीकाल में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने काल की अनियत्रित भाषा और रीति परम्परा की सडी-गली सम्पत्ति को अपनाकर निर्मित होने वाले निर्जीव साहित्य दोनो का नियमन किया। साथ ही उनकी विवेकशील दृष्टि ने रक्त पर नवता की शक्ति से सम्पन्न साहित्य का समर्थन और पथ-निर्देशन किया। इसका परिणाम है आज का विकसित हिन्दी साहित्य। दूसरी ओर उस काल के रीतिवादी आलोचक लाला भगवान दीन आदि ने रीतिवादी आलोचना के परिपाटीवद्ध मानदंड पर तत्‌युगीन नये साहित्य को परखा, कुढ़न व्यक्त की, उसे अनुशासित करना चाहा लेकिन उनका अनुशासन विवेकहीन होने के कारण असफल रहा। बँधे-बँधाये सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों उगल-उगल कर उनके धुँधले आलोक में नये साहित्य को देखने वाले आलोचकों ने हमेशा नयी प्रवृत्तियो का मजाक ही उडाया है और चाहा है अपने पुराने कमजोर डडे से गतिमान नयी धारा का नियमन करना। आगरा के गाइड माडल की आलोचनाएँ उठाकर देख लीजिए नयी कविता के नाम पर वे वार-वार 'अगर कहीं मै तोता होता' या ऐसी ही किचित् के रूप में लिखी गयी दो-चार कविताओ को वार-वार उद्धृत कर 'नयी कविता' के स्वरूप को समझ लेने का दावा करते है और फूहड ढग से समूची नयी प्रवृत्ति को गाली वकते है। और कोफ्त तो तब होती है जब एम० ए० तक के परीक्षार्थी ऐसी ही आलोचनाओ की पूँछ पकड़कर परीक्षा की वैतरणी पार करना चाहते है। वे पार तो अवश्य कर लेते है किन्तु किनारे जाकर डूब जाते है। नयी कविता का नियमन तभी हो सकता है जब इस प्रवृत्ति की मूल शक्तियो और अशक्तियो को परखा जाय। इसमें निहित छवियों को समर्थता से ग्रहण करने वाले और छवियो की भोड़ी नकल कर शून्यता को ढकने के लिए 'पोज' करने वाले कवियों में अन्तर किया जाय और इसकी शक्ति की भावी सम्भावनाओ पर विचार किया जाय।

संस्कृत के आचार्यों ने साहित्य के विभिन्न प्रश्नो पर गहन चिन्तन-मनन प्रस्तुत किये थे। हिन्दी के रीतिकाल में भी साहित्य-सिद्धान्तो की चर्चाएँ विस्तार से हुई लेकिन उनमें गहनता और मौलिकता नहीं आयी। इन चर्चाओं में संस्कृत साहित्य में चर्चित सिद्धान्तो को ही ज्यो का त्यों अपनाया गया। नये चिन्तन के द्वार नहीं खुले। आधुनिक काल में भारतेन्दु से लेकर आज तक साहित्य-सिद्धान्तों की नयी स्थापनाओ या स्थापित साहित्य-

सिद्धान्तों की नयी व्याख्याओ की एक समृद्ध परम्परा दिखाई पडती है। भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, नन्द दुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, शिवदान सिंह चौहान, राम विलास शर्मा, अज्ञेय, डा० देवराज, नामवर सिंह, धर्मवीर भारती इत्यादि नाम साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में विशेप महत्त्व रखने है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इस क्षेत्र मे व्यापकता और गहराई दोनों दृष्टियो से अपना विशेप स्थान है। प्रस्तुत पुस्तक मे सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में हुए और हो रहे कार्यों की उपलब्धियों की संक्षिप्त चर्चा की गयी है।

व्यावहारिक समीक्षा विविध साहित्य-सिद्धान्तो को आधार बनाकर कृतियों की व्याख्या और परीक्षा करती है। पश्चिम में व्यावहारिक समीक्षा के अनेक भेद स्वीकारे गये है, जैसे—निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, प्रभाववादी, आचारवादी, अर्थनिरूपण मूलक, तुलनात्मक, व्यक्तित्व-प्रदर्शन-प्रणाली मूलक, अभिव्यंजनावादी, अनुभवात्मक, रीतिवादी, मनोवैज्ञानिक, नैसर्गिक, क्रियात्मक, कार्यात्मक, प्रगतिवादी, स्वच्छन्दतावादी, अलंकारवादी, जीवनी मूलक, ऐतिहासिक इत्यादि। लेकिन ये सभी प्रकार की आलोचनाएँ हिन्दी में नहीं मिलतीं, स्वयं पश्चिम में भी सबका समान प्रयोग नहीं हुआ है, कुछ तो केवल प्रयोग बनकर रह गयी है। वास्तव में निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक और प्रभाववादी ये ही तीन आलोचना-प्रणालियाँ मुख्य है। शेप या तो इनके भीतर समा जाती हैं या विशेप महत्त्व की नही। ये तीनो प्रकार की आलोचना-प्रणालियाँ तीन प्रकार के मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित है।

निर्णयात्मक आलोचना को अँगरेजी में जुडीशल क्रिटिसिज्म कहते है। इसका आधार और लक्ष्य व्याख्यात्मक आलोचना के आधार और लक्ष्य से भिन्न होता है, साहित्य के क्षेत्र मे प्रचलित सिद्धान्त इसके आधार बनते है। ये सिद्धान्त अपरिवर्त्तनीय होते है। इन्ही अपरिवर्त्तनीय सिद्धान्तो को साहित्य का मान स्वीकार कर इन्हीं के आधार पर यह आलोचना किसी कृति के मूल्यो का निर्णय देती है। आलोचक निर्णायक के समान होता है, वह कृति-विशेप की उत्कृष्टता और अपकृष्टता की स्पष्ट घोपणा करना चाहता है। स्पष्ट है कि ऐसी आलोचना स्थिर साहित्य-सिद्धान्तो पर बल देने के कारण किसी कृति में कृतिकार के व्यक्तित्व, वातावरण आदि से प्रादुर्भूत होने वाले तत्त्वों और प्रभावों की उपेक्षा कर जाती है और अन्ततोगत्वा कृति के साथ न्याय नही कर पाती। ऐसी आलोचना कृति के नवीन व्यक्तित्व को

समझने में सहायक न होकर पाठकों को केवल उत्कृष्टता या अपकृष्टता के निर्णय से अवगत कराती है। निर्णयात्मक समीक्षा जिन सिद्धान्तो पर आधारित होकर मूल्य-निर्णय देती है वे सिद्धान्त शुद्ध साहित्यिक मानो के भी हो सकते है और साहित्येतर मानो के भी। लेकिन हर दशा में ये रूढ़ ही होते है। रस-सिद्धान्त शुद्ध साहित्यिक सिद्धान्त है लेकिन रस-सिद्धान्त अपने रूढ़ स्वरूप में आज के साहित्य का मूल्यांकन नहीं कर सकता। साहित्येतर सिद्धान्त सामाजिक, नैतिक, धार्मिक मूल्यो से सम्बद्ध होते है। ऐसे सिद्धान्त मूल्याकन के रूढ आधार बनकर और भी विचित्र स्थिति पैदा करते है।

किन्तु यदि निर्णयात्मक समीक्षा का उपयोग सही ढग से किया जाय तो इसका मूल्य कम नहीं हो सकता। व्याख्यात्मक समीक्षा से सपृक्त निर्णयात्मक समीक्षा विश्लेषण-मूलक हो उठती है। निर्णय रूढ सिद्धान्तों पर आधारित न होकर नवीन साहित्य की चिन्ता-धारा और स्वयं कृति के भीतर से प्रस्फुटित होने वाले नवीन रचना-सौष्ठव पर अवलम्बित होता है। इसलिए यह गुण-दोष-उद्घाटन के उद्देश्य और भावुकतामयी प्रशंसात्मक या निन्दात्मक शैली से विरक्त होकर विवेचन-मूला तथा मूल्यांकन-धर्मा हो उठती है।

व्याख्यात्मक समीक्षा का क्षेत्र व्याख्या और विवेचन है। वह वैज्ञानिक प्रणाली है। वह दो वस्तुओं में केवल प्रकार-भेद बतलाती है गुण-भेद नही। लेकिन मनुष्य की हर कृति का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार जीवन की सोद्देश्यता के साथ सपृक्त है। वह जानना ही चाहता है कि अमुक चीज मानव-जीवन के लिए कितनी मूल्यवान है। "लेकिन वनस्पतिशास्त्र के बबूल और गुलाब का जाति-भेद बताने के बाद भी एक ऐसे शास्त्र की आवश्यकता रह जाती है जो बतावे कि इन दोनों मे किसका नियोग मानव-जाति के कल्याण मे किया जा सकता है। उसी प्रकार समालोचक नही तो कोई और ही बतावे कि इस कवि से समाज को क्या लाभ या हानि है—अर्थात समाज के लिए कौन कितना उत्कृष्ट या अपकृष्ट है। इस प्रकार की समस्या जहाँ की तहाँ रह जाती है।"[1] व्याख्यात्मक समीक्षा की इसी कमी को निर्णयात्मक समीक्षा पूरा करती है।

हिन्दी के द्विवेदीकाल में निर्णयात्मक समीक्षा का कुछ असतुलित रूप दिखाई पड़ता है। इस काल की समीक्षा में व्याख्यात्मक समीक्षा का कुछ उभार अवश्य लक्षित होता है किन्तु वह मूलत गुण-दोष-विवेचन और तुलनात्मकता पर ही आधारित रही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से

१ साहित्य का साथी—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १४७।

व्याख्यात्मक समीक्षा का प्रौढ़ काल आरम्भ होता है किन्तु इन सभी प्रौढ़कालीन आलोचकों में प्रत्यक्ष या परोक्ष भाव से निर्णयात्मक समीक्षा का अस्तित्व बना ही रहा है। लेकिन निर्णय का स्वर विकसित समीक्षा-सिद्धान्त तथा कृतियों की गम्भीर व्याख्या के भीतर से फूटता दिखाई पडता है।

व्याख्यात्मक समीक्षा को समीक्षा का सर्वोत्तम प्रकार माना गया है। अँगरेजी में इसे 'इन्टर प्रिटेटिव क्रिटिसिज्म' कहते है। व्याख्यात्मक समीक्षा निर्णयात्मक समीक्षा के विरोध में उठी जान पड़ती है। निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना में मुख्य तीन भेद माने गये है—"(१) निर्णयात्मक आलोचना उत्तम, मध्यम, निकृष्ट श्रेणियो का भेद स्वीकार करती है। व्याख्यात्मक आलोचना केवल प्रकार-भेद स्वीकार करती है। वह विज्ञान की भाँति वर्ग-भेद तो मानती है किन्तु ऊँच-नीच के भेद में उसे विश्वास नहीं। व्याख्यात्मक आलोचना भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनाओं की विशेषता बता देगी किन्तु ऊँच-नीच का भेद नही करेगी। (२) निर्णयात्मक आलोचना नियमो को राजकीय नियमों की भाँति किसी अधिकार से प्राप्त हुआ मानती है और उनका पालन करना अनिवार्य समझती है किन्तु व्याख्यात्मक आलोचना उन नियमो को किसी बाह्य अधिकारी द्वारा नही वरन् अपनी ही प्रवृत्ति के नियम मानती है। व्याख्यात्मक आलोचना कवि या कलाकार की अपनी सृष्टि की विशेषताएँ स्वीकार करती है और निर्णयात्मक आलोचना उसे निर्जीव पत्थर की कसौटी पर कसना चाहती है। (३) निर्णयात्मक आलोचना नियमो को स्थिर और अपरिवर्त्तनशील मानती है। व्याख्यात्मक आलोचना प्रगतिशील और परिवर्त्तनशील मानती है।"[1]

इस भेद से स्पष्ट है कि व्याख्यात्मक समीक्षा साहित्य की प्रगति में सहायक होने वाली समीक्षा है। वह कृति की मूल प्रेरणाओं को समझती है। साहित्य-सर्जन एक संश्लिष्ट व्यापार है। उसमें युग, परिवेश, इतिहास, सर्जक का व्यक्तित्व, चिंतन, अनुभव—अनेक तत्त्व काम करते है; साहित्य शास्त्रो के नियमों से सर्जित नही होता। नियमो को सामने रखकर निर्मित होने वाला साहित्य निर्जीव और नवोन्मेष-शून्य होता है। व्याख्यात्मक समीक्षा कृति के पास कोई नियम लेकर नही पहुँचती वरन् उस कृति को सम्यक् रूप से समझने के लिए मुक्त दृष्टि लेकर जाती है। उस कृति को उसके

---

१. हिन्दी साहित्य कोश।

समग्र रूप में समझना ही उसका मुख्य उद्देश्य होता है। व्याख्यात्मक समीक्षा कृति-विशेष में सर्जित भावलोक, विचार-सौन्दर्य और रचना-सौष्ठव का-उद्‌घाटन करती है। यद्यपि कृति का मूल्य आँकना व्याख्यात्मक समीक्षा के लिए आवश्यक नही किन्तु यदि मूल्य आँकना ही होता है तो वह उस कृति के भीतर से ही आधार खोज निकालती है। इस गभीर दायित्व को निभाने के लिए आलोचक को कृति के साथ ऐक्य स्थापित करना होता है।

वैसे स्वच्छन्दतावादी, प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणवादी आलोचनाओं की अपनी-अपनी साहित्यिक मान्यताएँ है किन्तु व्यापक रूप से ये व्याख्यात्मक समीक्षा के ही भीतर आयेंगी। ये सारे वाद साहित्य की मूल प्रेरणाओ को समझने के अलग-अलग प्रयास है किन्तु ये सब-के-सब व्याख्यात्मक आलोचना की विशेषताओ को अपनाकर वस्तुगत दृष्टि से साहित्य का विवेचन और मूल्याकन करने के पक्षपाती है। व्याख्यात्मक समीक्षा के भीतर विभिन्न विचार-परम्पराओ के आलोचक आ सकते है यदि वे ऊपर स्वीकृत विशेषताओं को स्वीकार करके चलते है। व्याख्यात्मक समीक्षा में किसी कृति को समझने के लिए उसके युग, समाज, परम्परा और लेखक के व्यक्तित्व इन सभी की जाँच की जाती है। प्रगतिशील समीक्षा युग और समाज पर, मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणवादी समीक्षा लेखक या पात्र के व्यक्तित्व के भीतर प्रमुख तत्त्व के रूप में स्थित अचेतन मस्तिष्क पर और ऐतिहासिक आलोचना ऐतिहासिक सत्यों पर विशेष बल देती है। ये सब व्याख्यात्मक समीक्षा के अन्तर्गत ही ली जा सकती है। प्रस्तुत पुस्तक में यथास्थान इनकी व्याख्या की गयी है।

ऊपर कहा गया है कि ऐतिहासिक आलोचना भी व्याख्यात्मक आलोचना के भीतर ही समेटी जा सकती है क्योकि वह व्याख्यात्मक समीक्षा के एक विशेष अंश को समझने में बड़ी सहायक होती है। किसी कृति की परीक्षा करते समय कृतिकार के समकालीन और पूर्ववर्त्ती इतिहास का आश्रय लेने से ऐतिहासिक आलोचना का जन्म होता है। ऐतिहासिक आलोचना अपने शुद्ध रूप में देश और काल तक ही सीमित रहती है। रचना पर युग और समाज का प्रभाव होता है किन्तु क्या कारण है कि एक ही युग और समाज में रची गयी अनेक कृतियों में कुछ साम्य के बावजूद अपनी-अपनी इयत्ता होती है। इस सत्य को समझने के लिए आलोचक कृतिकार की मूल प्रवृत्ति और व्यक्तित्व की परीक्षा करता है। ऐतिहासिक आलोचना रचनाकार का अन्तर विश्लेषण करने वाली प्रवृत्ति को समेटकर उच्चकोटि की व्याख्यात्मक समीक्षा का रूप धारण करती है। ऐतिहासिक सत्यों को न

समझने के कारण साहित्य में चिरन्तन तत्त्वों का आरोप कर दिया जाता है अर्थात् ऐसा मान लिया जाता है कि साहित्य के कुछ चिरंतन सत्य है जो देश-काल के प्रभावो की चिन्ता किये बिना सभी समयो के साहित्यो में समान भाव से वर्त्तमान रहते है। ऐतिहासिक आलोचना ने इस धारणा का खंडन करे आलोचना के क्षेत्र में एक नया कार्य किया है। उसने रूढ़ मान-दंडों का विरोध कर नये-नये मानदण्डो के निर्माण की आवश्यकता की ओर सकेत किया है। वड़े से वड़े प्रतिभाशाली और सार्दभौम तथा सार्वकालिक महत्त्व के समझे जाने वाले कृतिकारो पर भी देश, काल और परम्परा का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव होता ही है। उस प्रभाव को समझे विना उसकी कृतियों को ठीक से नही समझा जा सकता। ऐतिहासिक आलोचना का एक खतरा भी वड़ा स्पष्ट है। वह यह कि जब आलोचक का संस्कार साहित्यिक नही होता है तो वह स्थूल भाव से लेखक के समकालीन और पूर्ववर्त्ती काल के तथ्यो के आँकड़े पेश करने लगता है। वास्तव मे ये सारे तथ्य कृति-विशेष के अध्ययन की सापेक्षता में ही अपनी सार्थकता प्रमाणित कर सकते है। कृति-विशेष की विभिन्न प्रवृत्तियो को जन्म देने वाले या प्रभावित करने वाले जो ऐतिहासिक सत्य है उन्हीं की व्याख्या (और वह भी उन प्रवृत्तियों के संदर्भ में) अनिवार्य है। ऐतिहासिक आलोचना उस शोध-कार्य से भिन्न है जिसमें रचनाकार के जीवन के अनेक तथ्यों को रचना-परीक्षण की निस्संगता के साथ समेटा-खोजा जाता है।

प्रभाववादी या प्रभावाभिव्यंजक आलोचना में आलोचक कृति की उपलब्धियों और सीमाओं का वस्तुगत विवेचन न कर अपने ऊपर पड़े हुए उस कृति के प्रभाव को काव्यात्मक शैली में कह चलता है। इस आलोचना का मूल आधार स्वच्छन्द व्यक्तिवाद या आत्म-चेतना है इसलिए इसे आत्मगत आलोचना भी कहते है। कृति में सन्निहित आनन्द का विवेचन करना इसका लक्ष्य नही होता बल्कि उसका अनुभव करना और कराना उसका उद्देश्य होता है। इस आलोचना मे आलोचक का व्यक्तित्व प्रमुख हो उठता है इसलिए यदि वह सशक्त और पूर्ण रसग्राही है तो अपने माध्यम से पाठक को कृति के मूल आनन्द तक ले जाता है, यदि सतही स्तर की भावुकता से विभोर है तो पाठक को मधुर वाग्जाल में उलझाता है, हलकी उत्तेजनात्मक भावुकता, आलंकारिता और विस्मयवोधक प्रशंसोक्तियो मे भटकाता है। प्रभाववादी आलोचना अपने शुद्ध और उत्तम स्वरूप में ग्राह्य है। वह कृति की बुद्धि-संगत वस्तुगत विवेचन भले न करती हो किन्तु कवि की मूल अनुभूति तक हमें अनुभूति के माध्यम से ले जाना चाहती है। आचार्य शुक्ल

इसे नगण्य कोटि की आलोचना मानते हैं। ज्ञान और भाव दोनो क्षेत्रो में इसका मूल्य वे अस्वीकारते है। किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, प० शांतिप्रिय द्विवेदी आदि आलोचक सिद्धान्तत: इसके मूल्य को अंगीकार करते है। द्विवेदी-काल मे प० पद्मसिंह शर्मा और छायावाद-काल में प० शान्तिप्रिय द्विवेदी विशेष रूप से इस क्षेत्र में कार्य करते दीखते है। कुछ और भी प्रयास हुए है जिनकी चर्चा प्रस्तुत पुस्तक में हुई है।

तुलनात्मक आलोचना भी व्याख्यात्मक आलोचना में सहायक हो सकने वाली एक आलोचना-प्रणाली है वैसे यदि यह रूढ़ सिद्धान्तों पर आधारित रहे तो निर्णयात्मक आलोचना का,एक अंग बन सकती है। तुलना का अर्थ है दो चीजो के साम्य-वैषम्य का परीक्षण। यह आलोचना एक ही युग के दो या अधिक कृतिकारो को एक साथ रखकर उनकी समता-विषमता, उनके प्रेरणा-स्रोतों, भाव-सम्पत्ति, विचार-समृद्धि, उद्देश्य-शैली इत्यादि की परस्पर तुलना करती हुई उनकी उत्कृष्टता-अपकृष्टता का तारतम्य निरूपण करती है। वह ऐतिहासिक विकास-क्रम मे समीप दिखाई पड़ने वाले कालों में सर्जित कृतियों को भी तुलना की तुला पर रखती है, पूर्ववर्त्ती काल का परवर्त्ती काल पर क्या प्रभाव पड़ा है और उसका कितना विकास हुआ है इसे देखती है। साहित्य का इतिहास लिखते समय इस पद्धति की विशेष आवश्यकता पड़ती है। यह आलोचना एक ही कृतिकार की दो या अधिक कृतियो की भी आपस मे तुलना करती है। इसी प्रकार दो भाषाओं के समान-धर्मी या एक ही धारा के लगने वाले दो कृतिकारो की तुलना भी यह आलोचना करती है, जैसे—शेक्सपियर और कालिदास, पंत और शेली, प्रेमचन्द और गोर्की इत्यादि। तुलना के विषय-वस्तु, भाव, भाषा, शैली इत्यादि सभी हो सकते है। इस प्रकार तुलनात्मक आलोचना किसी कृति के सर्वांगीण पर्यवेक्षण और उसके सापेक्षिक मूल्यांकन को उद्देश्य मानकर चलती है।

तुलनात्मक आलोचना की सफलता उसकी विश्लेषण-शक्ति पर आधारित है। तुलना रूढ़ सिद्धान्तो के मानदंड से भी हो सकती है और बदलते हुए मूल्यो को भी आधार मानकर। प्रशंसात्मक और निन्दात्मक उक्तियों के द्वारा भी हो सकती है और बुद्धि संगत विवेचन के जरिये भी। अर्थात् उसका समावेश सभी प्रकार की आलोचनाओ के भीतर हो सकता है किन्तु वह व्याख्यात्मक समीक्षा की शक्तियो पर आधारित होकर ही अपने उद्देश्य में सफल हो सकती है। द्विवेदीकाल मे 'देव और विहारी' की तुलनाएँ निर्णयात्मक और प्रभाववादी आलोचनाओं के स्वरूप से संचालित दिखाई

पड़ती है किन्तु आचार्य शुक्ल और वाद के अन्य आलोचको द्वारा की गयीं तुलनाएँ व्याख्यात्मक आलोचना की विश्लेषणपरक गंभीरता और नये मूल्यों से सम्बद्ध है।

कहा जा चुका है कि अनेक प्रकार की आलोचनाएँ पश्चिम में स्वीकार की गयी है किन्तु हिन्दी में उनका स्वरूप लक्षित नहीं होता। फिर भी कुछ के सम्बन्ध में सैद्धातिक ढंग से थोड़ा विचार कर लिया जाय। अभिव्यजनावादी आलोचना का आधार क्रोचे का अभिव्यंजनावाद है। इसे अँगरेजी में एक्सप्रेशनिज्म कहा गया है। क्रोचे ने ज्ञान दो तरह का माना है—सहजज्ञान और तर्कशक्ति द्वारा प्राप्त। कला का सम्बन्ध सहजज्ञान से है और शास्त्र का सम्बन्ध तर्कशक्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान से। सहजज्ञान से ही हमारे मनोभाव नियत्रित होते है और अभिव्यंजना के लिए वाध्य होते है। सहजज्ञान और अभिव्यंजना दोनो एक ही है अर्थात सहजज्ञान के व्यक्त होने का रूप ही अभिव्यंजना है। अभिव्यंजना का आधार भौतिक नही है, आभ्यंतर और मानसिक है। भौतिक साधनों से वाहर व्यक्त होने वाला कलास्वरूप इसी आभ्यतर अभिव्यक्ति का वाहरी रूप है। यह आलोचना विपय या वस्तु को गौण मानकर अभिव्यक्ति को ही कला मानती है। अभिव्यक्ति की सुन्दरता को ही महत्त्व देकर उसे परखने वाली आलोचना अभिव्यंजनावादी आलोचना है। हिन्दी में आधुनिक काल में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर चर्चाएँ अवश्य हुई है किन्तु किसी ने इसे आलोचना का आधार नहीं वनाया। हाँ, यदि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का सम्बन्ध भारतीय वक्रोक्तिवाद से जोड़कर उक्तिवैचित्र्य को काव्य-सौन्दर्य माना जाय तो स्वीकार करना पडेगा कि द्विवेदीकाल के कुछ रीति-परंपरावादी आलोचकों—लाला भगवान दीन, पद्मसिंह शर्मा—ने इस आलोचना को व्यवहार में अपनाया है।

जीवनी मूलक आलोचना की यह मान्यता है कि रचना और रचनाकार के जीवन का निकटतम सम्बन्ध होता है। लेखक के भाव-जगत् और विचार-जगत पर उसके जीवन की घटनाओं और परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव रहता है। इसीलिए यह आलोचना लेखक की जीवनी की उन घटनाओं और परिस्थितियों की छानवीन करती है जो उसकी कृति को समझने में सहायक होती है। जीवनी मूलक आलोचना का उद्देश्य कृतिकार की जीवनी प्रस्तुत करना नहीं है वरन् कृतियों और जीवनी के वीच कार्य-कारण सम्बन्ध जोड़ना है। शीघ्रता से निष्कर्षों की ओर झपटना खतरनाक सिद्ध

हो सकता है। उचित सिद्धि के लिए आलोचक के पास धैर्य, विश्लेषण-बुद्धि, घटनाओं और परिस्थितियो का निरीक्षण करने वाली सूक्ष्म दृष्टि का होना अनिवार्य है। वास्तव में यह भी व्याख्यात्मक समीक्षा की सहायक समीक्षा है। प० हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'कबीर' इस दृष्टि से एक सुन्दर उपलब्धि है।

नैसर्गिक आलोचनावादी समीक्षक रचना का सौन्दर्य-सर्जन करने वाले तत्त्वो का विश्लेषण नहीं करता बल्कि सिद्ध रूप में लक्षित होने वाली रचना के सौन्दर्य-असौन्दर्य के सम्बन्ध में वह अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया कह चलता है। प्रभाववादी आलोचना की तरह इसमे भी आलोचक की व्यक्तिगत रुचि-अरुचि प्रधान हो उठती है। इसे प्रभाववादी समीक्षा के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

रचनात्मक या क्रियात्मक आलोचना मे आलोचना के समस्त वाह्यारोपित मानो—जीवनी, धर्म, परिस्थिति, युग, विषय की महत्ता—का विरोध तो मिलता ही है साथ-ही-साथ प्रभाववादी आलोचना की वैयक्तिक प्रतिक्रिया वाली प्रवृत्ति का भी खडन दिखाई पड़ता है। रचनात्मक आलोचना कलाकार के अनुभवो को अपने भीतर जन्म देकर उनकी पुनः रचना करती है। कलाकार जीवन और जगत् का कल्पनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है तो आलोचक कलाकार की सृष्टि का।

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी आलोचना के विविधि स्वरूपो और विकास को सक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी आलोचना का विकास बड़ा ही उत्साहवर्द्धक रहा है। आधुनिक काल के सत्तर-अस्सी वर्षों के बीच हिन्दी आलोचना ने पर्याप्त समृद्धि प्राप्त की है। पूर्ववर्त्ती हिन्दी साहित्य मे समालोचना का रूप नहीं था। रीति-काल में था किन्तु आधुनिक आलोचना के विकास मे वह सहायक हुआ हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह बड़ी ही परपराप्रेषित और सीमित प्रकार की आलोचना थी। अत हिन्दी आलोचना आधुनिक काल में यदि इस कोटि तक विकसित हो सकी तो इसे अत्यंत उत्साहवर्द्धक ही कहा जायगा। मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से हिन्दी का आलोचना साहित्य समृद्ध कहा जा सकता है। आये दिन जो आलोचना के नाम पर साधारण कोटि की पुस्तके प्रकाशित हो रही है, इनको छोड देने के बावजूद कुछ बहुत अच्छी कोटि की आलोचनाएँ हमें उपलब्ध होती हुई दीखती है। आलोचना के क्षेत्र मे वैयक्तिक व्यक्तित्व और चिन्तन की सामूहिक धाराओ, दोनो का महत्व है। हिन्दी का आलोचना साहित्य

दोनो दृष्टियो से समृद्ध है। एक ओर प० महावीर प्रसाद द्विवेदी, डा० श्याम सुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, पं० नंददुलारे वाजपेयी, डा० राम विलास शर्मा, अज्ञेय, श्री शिवदान सिंह चौहान, डा० देवराज जैसे प्रतिभा-सम्पन्न आलोचक हिन्दी को मिले, दूसरी ओर विभिन्न वादो के माध्यम से चिन्तन की नयी-नयी परंपराएँ स्थापित होती चली। आधुनिकतम समय में शुक्ल, द्विवेदी, नगेन्द्र, वाजपेयी जैसे बहुत चिन्तन-समृद्ध व्यक्तित्व का नवीन उदय होता हुआ भले न दिखाई पडता हो लेकिन सामूहिक चिन्तन निरंतन आगे बढ़ रहा है और साहित्य के अनेक नवीन प्रश्नों पर, उसकी रचना-प्रक्रिया पर बडी गहराई से विचार कर रहा है।

१

हिन्दी आलोचना का आरंभ

(सन् १८६७-१९००)

हिन्दी आलोचना का जन्म आधुनिक काल में हुआ है। जिस प्रकार हिन्दी साहित्य की अन्य विधाएँ आधुनिक काल में नये-नये रूप में विकसित हुईं उसी प्रकार आलोचना भी। वह अपने नवीन स्वरूप मे आज की ही उपज है।

ऐसा नहीं है कि भारत में या हिन्दी साहित्य के पूर्व काल मे आलोचना का अस्तित्व ही नहीं था। भारतीय आचार्यों ने तो साहित्य के सिद्धान्तो को ले कर वडा गहन चिन्तन-मनन प्रस्तुत किया। 'काव्य की आत्मा क्या है ?' इस तत्व की गवेषणा और चिन्तन को ले कर रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय जैसे पाँच विचार-निकायो का स्वरूप सामने आया। सभी सम्प्रदायो ने अपने-अपने पक्ष को गहनता और ईमानदारी से प्रतिपादित करते हुए भी दूसरे पक्षों के सत्यो को अवांतर रूप से स्वीकार किया। 'काव्य की आत्मा क्या है ?' प्रश्न के साथ ही साथ 'काव्य का हेतु', 'काव्य का प्रयोजन' आदि प्रश्न भी अनेक आचार्यों द्वारा विचार के लिए सामने लाये गये। रचनात्मक साहित्य के आधार पर काव्य के गुण-दोषों का स्वरूप निश्चित किया गया। वर्ण्य विषयों का भी रूप निर्धारित किया गया। काव्य के भेद और भेदो के उपभेद कर उनके आंतरिक और वाह्य स्वरूपों का निर्धारण किया गया। इस सैद्धान्तिक आलोचना को थोडे-थोडे अन्तरो के कारण सूत्र, कारिका, फक्किका, वृत्ति, टिप्पणी, भाष्य, वार्तिक, समीक्षा, वचनिका, टीका, व्याख्यान इत्यादि अनेक नाम दिये गये।

संस्कृत साहित्य में सैद्धान्तिक आलोचना के साथ ही साथ व्यावहारिक आलोचना भी कई रूपो में दिखाई पड़ती है। किसी कवि के किसी सुन्दर पक्ष को सूत्र रूप मे प्रशंसात्मक ढंग से कह दिया जाता था। ये विशेषताएँ कभी-कभी तुलनात्मक ढंग से भी कही जाती थीं। अर्थात् कई कवियों की खास-खास विशेषताएँ चुन ली जाती थी और उन्हे एक साथ कह दिय जाता था। गुण-दोष-विवेचन के रूप में भी व्यावहारिक आलोचना दिखाई पडती है। आचार्य लोग काव्य के गुण-दोष-विवेचन के प्रसग में कवियो की कृतियों के गुण-दोष का हवाला दे दिया करते थे। टीकाओ के रूप में भी व्यावहारिक आलोचना का कुछ न कुछ स्वरूप लक्षित होता है। आचार्य

लोग ग्रन्थो की टीका करते-करते बीच-बीच में उनके काव्य-सौन्दर्य की ओर भी संकेत कर दिया करते थे। मौखिक आलोचना भी आलोचना के अन्तर्गत परिगणित की जा सकती है। अभिनय देखते समय प्रेक्षक हर्ष या विषाद-सूचक ध्वनियाँ करते थे। कथावाचक कथा बाँचते समय किसी पंक्ति की उत्कृष्टता दिखाते थे।

हिन्दी के रीति-साहित्य में भी संस्कृत के ढ ग की ही आलोचना-पद्धति दिखाई पडती है। रीति-काल के सारे कवि मूलत. कवि और गौणत" आचार्य थे। अनेक कवियों ने काव्य के अनेक पक्षो को ले कर उनकी चर्चा की। सच पूछिए तो इन आचार्यों ने संस्कृत के आचार्यों द्वारा सुविचारित और संस्थापित काव्य-सिद्धान्तो को आगे न बढ़ा कर उन्हीं को छन्द-बद्ध किया। कहीं-कहीं तो कुछ रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत के आचार्यों की मूल स्थापनाओ को न समझ कर उन्हे गलत रूप में पेश किया। कहने का तात्पर्य यह है कि रीति-काल में आलोचना के नाम पर जो कुछ पेश किया गया वह संस्कृत साहित्य का पिष्टपेषित था। ये कवि मूलत: कवि होने के कारण कविता करने में रस लेते थे, काव्य-सिद्धान्तो पर गहराई से विचार करने मे नही।

अत इन आचार्यों ने सिद्धान्त-निरूपण और मूल्यांकन के क्षेत्र में संस्कृत-आलोचना की परम्परा का ही पालन किया। कहा जा सकता है कि रीति-काल तक भारतीय आलोचना अधिकतर सैद्धांतिक रही। सिद्धान्त भी अपने-आप में साध्य नही होते। वे युगानुकूल बदलते हुए साहित्य के अनुसार बदला करते है। किन्तु अब तक दिखाई पडने वाली भारतीय सैद्धांतिक आलोचना में युग और समाज के बोलते हुए रूपो तथा भावो के साथ-साथ बदलती हुई साहित्यिक विषय-वस्तुओ और शैलियो को आधार मान कर चलने की प्रवृत्ति न थी बल्कि पहले के ग्रन्थो को आधार मान कर निरूपित साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के ही खण्डन-मण्डन करने की चेष्टा थी। व्यावहारिक आलोचना में भी गुण-दोष-विवेचन की ही प्रवृत्ति प्रधान थी। यह गुण-दोष-विवेचन भी काव्य के गतिशील आतरिक स्वरूप से उतना सम्बद्ध नहीं रह गया था जितना कि उसके रूढ़ बाह्य रूप से। इस प्रकार की बँधी-बँधाई आलोचना में किसी कृति की नवीन उपलब्धि, उस पर पड़े हुए कवि के व्यक्तित्व तथा युग और समाज के प्रभाव की छानबीन एवं उचित मूल्यांकन सम्भव नहीं था। किसी ग्रन्थ का स्वतंत्र विवेचन करने की भी प्रथा यहाँ नही थी।

'आधुनिक काल में आलोचना के नये द्वार खुले। खडी बोली के गद्य के

आविर्भाव के कारण हिन्दी साहित्य को बहुत बड़ी शक्ति मिली। रीति-काल मे पद्य में ही साहित्यिक सिद्धान्तो की चर्चा की जाती थी। पद्य शास्त्रीय विवेचना के लिए अनुकूल माध्यम नहीं हो सकता। रीति-काल में आलोचना के स्वरूप के विकसित न हो सकने का कारण यह भी है। भारतेन्दु-काल में हिन्दी को खडी बोली के गद्य की शक्ति प्राप्त हो जाने से तर्क, खण्डन-मण्डन और शास्त्रीय चिन्तन के लिए अनुकूल माध्यम प्राप्त हो गया। गद्य में हम अपने विचारो को चाहे जिस रूप में कह सकते है। पद्य में यह सुविधा नही होती। खडी बोली के आविर्भाव के नाते ही भारतेन्दु-काल में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगी। इन पत्रिकाओ में वैचारिक और भावात्मक दोनो प्रकार की साहित्य-कृतियाँ छपने लगीं। कविता के लिए व्रजभाषा और गद्य के लिए खडी बोली स्वीकृत की गयी। अतएव आलोचना के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ।

भारतेन्दु-काल (जिसे हम आलोचना का आरंभ-काल कहेंगे) में आलोचना के आन्तरिक स्वरूप में भी नया उन्मेष लक्षित हुआ। आलोचना का सैद्धान्तिक या व्यावहारिक पक्ष रूढ़ न हो कर गतिशील होता है, अर्थात् किसी कृति पर युग, समाज और स्वयं कृतिकार के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ा होता है, आलोचना उसे परखती है, नये-नये सिद्धान्त बनाती है और मूल्यांकन करती है। आरंभ-काल में रूढ़ सिद्धान्तो और गुण-दोष दिखाने की बँधी-बँधायी परंपरा से आगे बढ़ कर हिन्दी आलोचना ने नये आलोक में अपना नवीन धर्म पहचाना और इस पथ पर उसने चलना प्रारंभ किया।

आरंभ-काल में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओ की सम्पादकीय टिप्पणियो, प्राप्ति-स्वीकारो और कहीं-कहीं सम्पादक के नाम पत्रों में आलोचना का यह नया रूप दिखाई पडता है। स्वतंत्र रूप से आलोचना-ग्रंथ इस काल में भी नहीं लिखा गया। हाँ, भारतेन्दु ने अलबत्ता 'नाटक' नामक एक स्वतंत्र पुस्तक लिख कर बदले हुए समाज में नाटक की नवीन आवश्यकताओ की ओर ध्यान आकृष्ट किया।

अंगरेजी शिक्षा के प्रसार के कारण अंगरेजी साहित्य पढ़ने की ओर लोगो की रुचि बढ़ी। अंगरेजी में सैद्धान्तिक आलोचना के साथ ही साथ व्यावहारिक आलोचना की भी एक बड़ी लम्बी और सुपुष्ट परंपरा रही है। वहाँ गुण-दोष-कथन को विशेष महत्व नहीं प्राप्त था। कृतिकारों की मूलभूत विशेषताओ को उद्घाटित करने वाली, अन्त.वृत्तियो की छानबीन करने वाली पुस्तको को विशेष सम्मान प्राप्त था। वहाँ अठारहवीं शताब्दी तक

निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, प्रभाववादी, शास्त्रीय इत्यादि समीक्षा-स्वरूपो का विकास हो चुका था।

आरंभ-काल के हिन्दी समीक्षक जब ऐसे साहित्य के सम्पर्क मे आये तो इस प्रकार की आलोचना से प्रभावित हो कर उसके निर्माण की ओर उन्मुख हुए। तत्कालीन लेखो से पता चलता है कि उस काल के लेखक गुण-दोष-कथन वाली समीक्षा को बहुत बुरा समझने लगे थे। वे इस लीक से हट कर कृतियों की आंतरिक विशेषताओ के उद्घाटन की ओर प्रवृत्त हो रहे थे। सवत् १६२६ की 'आनन्द कादंबिनी' मे प्रकाशित सम्पादकीय टिप्पणी को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। उस टिप्पणी मे बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने सतही स्तर पर कटु ढंग से दोष बताने वाले आलोचको पर आक्रोश व्यक्त किया है।

आरंभ-काल की आलोचना को प्रभावित करने मे कई तत्वो ने काम किया है। पाश्चात्य आलोचना ने सिद्धान्त-चर्चा और मूल्यांकन के नये मार्ग सुझाए अवश्य, किन्तु अपनी परंपरागत आलोचना का दामन छोड़ पाना हिन्दी आलोचना के लिए संभव नही था। रस-चर्चा भारतीय साहित्य-शास्त्र की उच्चतम उपलब्धि रही है। अनेक आचार्यों ने बडी गहराई से विचार कर यह स्थापित किया कि रस ही काव्य की आत्मा है। अपनी परंपरा की यह मूल्यवान उपलब्धि किसी भी जागरूक काल के समीक्षक कैसे छोड़ सकते थे? साथ ही साथ अलंकार, ध्वनि, रीति और वक्रोक्ति की भी मूल्यवान निधि अपने यहाँ थी। आधुनिक काल के समीक्षको ने अपनी-अपनी रुचि और मान्यताओ के अनुसार इन निधियों को आधार-भूमि के रूप मे स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त इस काल के साहित्यिक तत्कालीन बड़े-बड़े मनीषियो की ही भाँति नवीन ज्ञान को अपनाने और राष्ट्रीय अभिमान की सुरक्षा करने के कारण दोनो मे सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे तथा सामाजिक क्षेत्र में अपनी संस्कृति के आदर्शों के पुनरुत्थान की भावना से ओत-प्रोत थे।

इसीलिए पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण करते हुए भी ये साहित्यकार या आलोचक गुण-दोष-कथन को (बहुत श्रेय न मानते हुए भी) सर्वथा छोड़ नही सके। परंपरापालन का भाव उनमे बना ही रहा। यो भी पश्चिमी साहित्य के सारे प्रभावो को एकाएक स्वीकार कर लेना इनके लिए संभव और स्वाभाविक नहीं था। कृतियो की रसात्मकता और अलंकारजन्य शोभा की प्रशंसा करने की प्रवृत्ति भी इन आलोचनाओं के स्वभाव में दिखाई

पड़ती है। यानी पश्चिमी आलोचना की व्याख्यात्मक आलोचना की गंभीर, व्याख्यापरकता और सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति इन आलोचनाओं में जन्म पा रही थी। उसके साथ प्रशंसात्मक या निन्दात्मक ढंग से गुण या दोष दिखाने या रसमयता की बखान करने की वृत्ति मिली हुई थी।

भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान तथा सामाजिक उपयोगिता के भाव इस काल के साहित्यकारों में प्रेरणास्वरूप कार्य कर रहे थे। साहित्य को देश-काल-निरपेक्ष मानने वाले साहित्यकारों में ये नहीं थे। ये निश्चय ही साहित्य को सोद्देश्य मानते थे। अत. सामाजिक उपयोगितावाद तथा संस्कृति का पुनरुत्थानवाद इनके साहित्य के नैतिक मान के स्वरूप में लक्षित होता है। इस प्रकार पश्चिम से आये हुए ज्ञान को अपनाने तथा भारतीय संस्कृति के सुप्त गौरव को जगाने की तड़प का मिला-जुला रूप इस काल के रचनात्मक तथा आलोचनात्मक साहित्य में दिखाई पड़ता है।

सैद्धान्तिक आलोचना

साहित्यालोचन के नये सिद्धान्तों की स्थापना मूल्यांकन को नयी दृष्टि देती है। आरंभ-काल में साहित्य के मूल्यांकन के नये मानदंड की ओर संकेत करने वाली एकमात्र पुस्तक है भारतेन्दु का 'नाटक'। इस पुस्तक में भारतेन्दुजी ने परपरित ढंग से दृश्यकाव्य, रूपक, उपरूपक के भेदों की परिभाषा देने के साथ ही साथ नवीन नाटकों या नाटकों की नवीन आवश्यकताओं पर विचार किया है। पश्चिम की नाटक-प्रणालियों का अध्ययन करने, नये युग की नयी आवश्यकताओं का अनुभव करने के कारण भारतेन्दुजी ने प्राचीन साहित्य के पौष्टिक और अपौष्टिक तत्त्वों का विश्लेषण किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि प्राचीन रुचि और संस्कार से निर्मित होने वाले नाटक आधुनिक दर्शकों की रुचि और संस्कार के अनुकूल नहीं ठहरते।

राष्ट्रीय और सामाजिक उपयोगितावाद को भी साहित्य का उद्देश्य मानने के कारण भारतेन्दु ने स्पष्ट घोषित किया—'इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं, यथा—(१) शृगार, (२) हास्य, (३) कौतुक, (४) समाज-संस्कार, (५) देशवत्सलता। समाज-संस्कार-नाटकों में देश की कुरीतियों को दिखलाना मुख्य कर्त्तव्य कर्म है, यथा—शिक्षा की उन्नति, विवाह-सम्बन्धी कुरीति-निवारण अथवा धर्म-सम्बन्धी अमान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथा-भाग का इस बुद्धि से संगठन किया जाय कि देश की उससे कुछ उन्नति हो, इसी प्रकार के अंतर्गत है। देशवत्सल

नाटको का उद्देश्य पढ़ने वालों या देखने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और वे प्राय करुण और वीररस के होते है ।'

भारतेन्दुजी ने नये का समर्थन या परिपाटी का त्याग 'फैशन',-वश नहीं अनिवार्यतावश किया । उन्होने साहित्य को युग और समाज की सापेक्षता में देखा, अत॰ अनावश्यक प्राचीन के त्याग और आवश्यक नवीन के ग्रहण को ऐतिहासिक अनिवार्यता माना । 'वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगो की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे सम्प्रति प्राचीन मत अवलम्ब करके नाटक आदि दृश्यकाव्य लिखना युक्ति-संगत नही बोध होता ।'

बाबू देवकीनंदन खत्री ने नागरी 'नीरद' के सम्पादक प्रेमघन को एक पत्र लिखा था । उसमें उन्होने उपन्यास को सफल बनाने वाली कुछ विशेषताओं पर प्रश्न पूछे थे । इन्हीं दिनो पंडित रामचन्द्र शुक्ल के एकाध निबन्ध प्रकाशित हुए जिनमें शुक्लजी नें शब्द-चमत्कार और अलंकाराडंबर को काव्य-सौन्दर्य के लिए आवश्यक तत्त्व न मान कर उनके अतिरेक का विरोध किया था । रसवादी परंपरा के होने के नाते उन्होने भाव-सौन्दर्य को ही काव्य का मूल सौन्दर्य स्वीकार किया ।

व्यावहारिक आलोचना

व्यावहारिक आलोचना के नाम पर सबसे पहले 'आनंद कादंबिनी' में बाणभट्ट के सम्बन्ध में प्रेमघन द्वारा लिखित एक छोटी-सी प्रशंसात्मक आलोचना दिखायी पड़ती है । पुरानी आलोचनाओं के समान ही इसमें कृति का गुण-वर्णन है, इसके वर्णन का ढंग आलंकारिक है, विशेपतया अलंकारो की विशेषताओं का बखान किया गया है, साथ ही साथ भावों के ही प्रेषण को काव्य का उद्देश्य माना गया है । किन्तु कवि की व्यक्तित्व-विधायक विशेषताओं का भी उल्लेख कर नवीनतावादी दृष्टि का हलका-सा परिचय दिया गया है। इसी प्रकार 'सारसुधानिधि' के सन् १८७९ ई० के अंक ६ में संपादकीय टिप्पणी में संस्कृत की एक कविता[1] की जो प्रशसा की गयी है उससे कविता मे देश और वहाँ की प्रकृति के प्रभाव की अनिवार्यता स्वीकार की गयी है ।

---

१. "प्रभातवाताऽहति कंपिताकृतो कुमुद्वती रेणुपिशंग विग्रहम् ।
निरास भृगं कुपितेव पद्मिनी, न माननीशं सहतेऽन्य संगम ॥"

किन्तु आलोचना के रूप में की गयी आलोचना का पहला और सुन्दर रूप दिखाई पड़ता है प्रेमघनजी द्वारा की गयी 'वंग विजेता' नामक उपन्यास की आलोचना में। यह उपन्यास बाबू रमेशचंद्र दत्त द्वारा लिखा गया है तथा बाबू गदाधर सिंह ने बँगला से हिन्दी में अनुवाद किया है। इस आलोचना में प्रेमघनजी ने मूल्याकन के लिए उपन्यास के बाह्य उपादानो की अपेक्षा उसके आंतरिक गुण-धर्म को ही विशेष रूप से लिया है। उपन्यास की सफलता के लिए उसके उपादानो में पारस्परिक सामंजस्य कहाँ तक होना चाहिए, यानी घटना, पात्र, संवाद और देशकाल का विधान किस रूप में, किस मात्रा में होना चाहिए इस प्रश्न को लेखक ने उठाया है और इसी कसौटी पर कस कर इस उपन्यास की सफलता का मूल्यांकन किया है। समीक्षक ने उपन्यास की साहित्यिक परीक्षा करते हुए उसके नैतिक स्वरूप को भी पकडे रखा है, यानी पात्रो का किस प्रकार का आचरण श्लाघ्य है, किस प्रकार का अश्लाघ्य, भारतीय पात्रो का कौन-सा रूप सहज और सुन्दर है, कौन-सा असहज और असुन्दर—इन प्रश्नों को भी लेखक ने बीच-बीच में उठाया है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण आलोचना दिखाई पडती है पं० बालकृष्ण भट्ट की। 'हिन्दी प्रदीप' के अप्रैल अंक (सन् १८८६ ई०) में भट्टजी ने 'सच्ची आलोचना' शीर्षक से लाला श्रीनिवास दास रचित 'सयोगिता स्वयंवर' की बड़ी कटु और सच्ची आलोचना की। ऐतिहासिक सत्यो का ऐतिहासिक नाटको में कितना ग्रहण और कैसा निर्वाह होना चाहिए इस प्रश्न पर भट्टजी ने बहुत मननीय विचार प्रस्तुत किये। इतिहास की घटनाओ या इतिवृत्त का वर्णन कर देने से ऐतिहासिक नाटक की रचना नहीं हो सकती, बल्कि उस समय के लोगो के हृदय की दशा को पहचानने से ही नाटक का वास्तविक स्वरूप खिल सकता है। उस समय मात्र के भाव को परखना और चित्रित करना नाटककार का धर्म होता है। इस प्रकार भट्टजी ने यह स्पष्ट कर दिया कि पात्र या भाव या कथानक न तो स्थूल पदार्थ है और न रूढ़ या चिरंतन। उनके सही अंकन के लिए उनके भीतर पैठने की आवश्यकता है और उस युग-बोध को ग्रहण करना अनिवार्य है जिससे ये बनते है।

भट्टजी ने इस आलोचना में बड़ी बारीकी से पात्रो के हृदय और संवादो के कृत्रिम सम्बन्धों का पर्दाफाश किया है। यथार्थ की पुष्ट भित्ति पर खड़ा न होने के नाते यह नाटक साहित्यिक दृष्टि से भी बड़ा कमजोर ठहरता है।

:

विकास-युग (निर्णयात्मक समीक्षा)

(सन् १६०१ ई० से १६२० ई०

भारतेन्दु बाबू ने जिस राष्ट्रीय भावना का उन्मेष किया था, विकास-काल में उसका निर्वाह तो हुआ ही, साथ ही साथ सामाजिक उत्थान का भी भाव खूब जागरूक हुआ। आर्यसमाज का आन्दोलन भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का प्रबल समर्थक था। आर्य समाज एक ओर अपनी पुरानी जर्जर रूढ़ियों का खंडन कर नवीन युग की आवश्यकताओं के अनुसार अपने प्रोज्वल अतीतकालीन संस्कृति से शक्ति दूह रहा था, दूसरी ओर वह अंगरेजी सभ्यता के प्रवाह में आँख मूँद कर बहने वालों की खबर ले रहा था। आर्यसमाज साहित्य को बड़े ही स्पष्ट ढग से सामाजिक उपयोगिता और राष्ट्रीय जागृति के साथ जोड़ रहा था। भारतीय स्वाधीनता का आन्दोलन भी इसी दिशा की ओर भारतीय चिन्तन-धारा को प्रेरित कर रहा था। विकासकालीन रचना और आलोचना पर इसका गहन प्रभाव लक्षित होता है। भारतेन्दु के समय में आरंभ होने वाली उपयोगितावाद और नैतिक पुनरुत्थानवाद की धारा विकास-काल में आ कर बहुत स्फीत दिखाई पड़ने लगी। साहित्यिकता का सामाजिक उपयोगिता के साथ एक अटूट गठबंधन लक्षित होता है। इस प्रकार विकास-काल मे भी आरंभ-काल की ही भाँति साहित्य के विविध अंगो के निर्माण और मूल्यांकन में साहित्य के मौलिक आभ्यंतर तत्त्वो का दर्शन उतना नहीं होता जितना कि बाहरी सामयिक प्रभावो का। आलोचना में साहित्यिक मानदंड का अभाव दिखाई पड़ता है। भावो की दृष्टि से श्रेष्ठ काव्य सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से कमजोर होने के नाते बहुत उच्च मूल्यो के अधिकारी नहीं माने गये।

उपयोगिता और नैतिकता को ले कर नोक-झोंक की वृत्ति पनपी। आलोचको के स्वर वक्र और व्यंग्यात्मक हो उठे। आलोचकों के स्वर के वक्र और व्यंग्यात्मक होने का एक कारण और दीखता है—वह है उत्पादन पर नियंत्रण की प्रवृत्ति। यह खड़ी बोली के निर्माण का युग था। बहुत-से कच्चे-पक्के लेखक औरों की देखा-देखी साहित्य लिख चलते थे। उनकी भाषा और रचनात्मक शक्ति में ऐसा लचरपन दीखता था कि कुशल लेखक भन्ना उठते थे। अतः वे इस बेकार के सृजन पर रोक लगाने के लिए व्यंग्यात्मक और कटु स्वर में इन लेखको पर फबतियाँ कसते थे। उत्पादन

पर नियंत्रण के कारण ही विकास-काल में समीक्षा का रूप जितना व्यवस्था-परक हो गया था उतना विश्लेषक नहीं बन सका।

विकास-युग की आलोचना मुख्यत. दो प्रकार की प्रवृत्तियो में बँटी दीखती है—(१) उपयोगितावादी प्रवृत्ति, (२) रीतिवादी प्रवृत्ति। पहली प्रवृत्ति के अंतर्गत वे आलोचनाएँ आती है जिनमें रचनाओं की परीक्षा करते समय सामाजिक सुधार, राष्ट्रीय हित या किसी न किसी प्रकार की नैतिकता का स्वर सामने रहता था। इन आलोचनाओ ने कृतियों के कलात्मक सौन्दर्य को नगण्य नहीं समझा, उन्हें सम्मानित किया किन्तु नैतिकतावादी स्वर को ये पकड़े रहीं। इन आलोचनाओ ने प्राचीन कवियो के साथ ही साथ नवीन कृतिकारो को भी समीक्षा के लिए चुना और नवीन और प्राचीन साहित्य को उपयोगिता की कसौटी पर कसा अवश्य किन्तु समय के परिवर्तन के साथ उपयोगिता का स्वरूप बदलता है इस बात को भी ध्यान मे रखा। इन आलोचनाओं में साहित्य के विषय-पक्ष और भाव-पक्ष को प्रधान माना गया तथा शैलीगत चमत्कार को गौण। समाजोपयोगी नये या पुराने विषयो का ग्रहण ही इस प्रकार के आलोचको के लिए महत्त्व का था। शैलीगत परिमार्जन की ओर इनका ध्यान उतना नही था। नयी काव्य-परंपरा में शैली को मँजते देर लगती है, इस बात मे वे परिचित थे। पुरानी मँजी-मँजायी काव्य-शैली हीन विषय से सम्बद्ध होने के नाते आज के काम की नही रह गयी है, इस बात को वे जानते थे। इस प्रकार के आलोचको मे प० महावीर प्रसाद द्विवेदी, कुछ हद तक मिश्रबन्धु और अन्यान्य छोटे-छोटे लेखक परिगणित हो सकते है।

रीतिवादी प्रवृत्ति में वे आलोचक लिये जा सकते है जो नये युग की चेतना से अप्रभावित हो रीतिकालीन कविता को ही आदर्श मानते थे। वे नैतिकता और उपयोगिता को आदर्श न मान कर रीतिकालीन शृंगार को ही आज भी काव्य-विषय के रूप मे स्वीकारते थे तथा तत्कालीन काव्य की परिमार्जित भाषा, छन्द, अलंकार इत्यादि को आज के काव्य के लिए भी अनिवार्य मानते थे। देव और बिहारी इन आलोचकों के लिए आदर्श थे। देव और बिहारी की कला की तुलनात्मक समीक्षा की मानो होड़-सी लग गयी थी। इस धारा के समीक्षकों के अंतर्गत मुख्यतः प० पद्म सिंह शर्मा, लाला भगवान दीन और कृष्ण बिहारी मिश्र आते है।

जहाँ तक आलोचना की शैली का प्रश्न है, दोनो धाराओं के आलोचकों में कुछ समान गुण-धर्म दिखाई पड़ते है। दोनों प्रकार के आलोचकों की

शैली में हास्य-व्यंग्य, तार्किकता, व्यक्तिगत कटाक्ष, प्रभाववादी स्वर और गुण-दोष-प्रदर्शन की प्रधानता दिखाई पड़ती है।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदीजी अपने काल के प्रतिनिधि साहित्य-विचारक और आलोचक थे। अतएव उस काल मे लक्षित होने वाली सारी आलोचनात्मक चेष्टाएँ और उपलब्धियाँ आपकी समीक्षा-कृतियो मे पायी जा सकती है। द्विवेदीजी ने प्राचीन कवियो को ही नहीं, नये से नये कवि को भी समीक्षा की कसौटी पर रखा। इस प्रकार इन्होने एक ओर अतीत काल की साहित्यिक उपलब्धियो को उद्घाटित कर हमारा गौरव-बोध बढाया तो दूसरी ओर वर्तमान काल की चेतना को पहचान कर उसे वाणी देने वाले कवियो का उत्साह बढाया। ये नये कवि विषय और शिल्प दोनो में नये प्रयोग कर रहे थे। अतः उनमें प्राचीन मँजी-मँजायी कविता की चिकनी और परिमार्जित शैली के स्थान पर ऊबड-खाबड किन्तु सशक्त शैली जन्म ले रही थी। द्विवेदीजी तत्कालीन साहित्य-चेतना के सबसे बडे पवक्ता होने के नाते इस सत्य की आवश्यकता महसूस करते थे। अत उन्होने बडे जोरदार ढंग से नये साहित्य के मूल्यों की स्थापना करनी चाही। द्विवेदीजी ने प्राचीन महाकवियों की विशेषताओ के साथ उनके दोपो को भी उद्घाटित कर नयी परंपरा का सूत्रपात किया। यो इस पर बहुत-से लोगो ने आपत्ति उठायी किन्तु द्विवेदीजी ने साहित्य-समालोचना के नाम पर छोटे या बडे, नये या पुराने सभी कवियों की उपलब्धियो और सीमाओं को सामने लाना उचित समझा।

द्विवेदीजी ने साहित्य-चिंतन-सम्बन्धी कई निबंध लिखे। 'रसज्ञ रंजन' इन निबंधो का सग्रह है। इन निबंधो से द्विवेदीजी की साहित्य-विषयक मान्यताएँ स्पष्ट होती है।

कहा जा चुका है कि द्विवेदीजी विषय पर जोर देने वाले आलोचक थे। काव्य का विषय उनकी दृष्टि में मनोरंजक और उपदेशजनक होना चाहिए। इन्होने इस प्रकार कविता के विषय को रीतिकालीन कविता के शृंगार से निकाल कर जीवन के असीम क्षेत्र में फैला दिया। कविता के नाम पर चले आते हुए खेलवाडो—अलंकारों के तमाशों, समस्यापूर्त्तियों, नायिकाओ की नुमाइश—का घोर विरोध कर सामाजिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियो से स्वस्थ प्रवृत्तियों का प्रवर्त्तन और पोपण किया।

द्विवेदीजी आदि आलोचको की आलोचना-दृष्टि के निर्माण में नैतिकता और सामाजिक उपयोगिता का कितना स्थान है इसका पता उनकी काव्य और कवि के सम्बन्ध में व्यक्त धारणाओ से चलता है। द्विवेदीजी कवि को अवतार मानते है। वह धर्म की स्थापना के लिए ससार में आता है। आजकल की कविता कैसी हो, इस पर विचार करते हुए ये कहते है—

१. कविता में साधारण लोगों की अवस्था, विचार और मनोविकारो का वर्णन हो,

२. उसमें धीरज, साहस, प्रेम, दया इत्यादि गुणो के उदाहरण हो।

३. कल्पना सूक्ष्म और उपमादिक अलंकार गूढ़ न हो।

४. भाषा सहज, स्वाभाविक और मनोहर हो।

५. छंद सीधा, परिचित, सुहावना और वर्णन के अनुकूल हो।

'सादा जीवन उच्च विचार' की प्रतिध्वनि तत्कालीन साहित्य और आलोचना मे भी पर्याप्त मात्रा मे दिखाई पड़ती है। इसीलिए द्विवेदीजी मिल्टन की इस परिभाषा पर बहुत जोर देते हुए जान पडते है—'कविता सादी हो, जोश से भरी हो और असलियत से गिरी हुई न हो।' साथ ही साथ द्विवेदीजी ने 'कवि बनने के सापेक्ष साधन' शीर्षक निबंध में क्षेमेन्द्र के मत का उद्धरण देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि प्रतिभा और लोकज्ञान के साथ अभ्यास की भी आवश्यकता होती है।

तत्कालीन मानवीय दृष्टि का परिचायक है द्विवेदीजी का 'कवियो की उर्मिला विषयक उदासीनता' लेख। उपेक्षित किन्तु भारतीय नैतिकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पात्रो की ओर इन विचारको का ध्यान गया। इस प्रकार द्विवेदीजी ने काव्यालोचन के लिए भाव, महत्त्वपूर्ण विषय और सामाजिक नैतिकता या उपयोगितावाद तीनो की मिली-जुली कसौटी सामने रखी। कहा जा सकता है कि विकास-काल में भी आलोचना को शुद्ध साहित्यिक आधार नहीं प्राप्त हो सका।

अपने इसी मानदंड से द्विवेदीजी ने प्राचीन और आधुनिक काव्य को नापा-जोखा। प्राचीन कवियो का ऐतिहासिक परिचय प्रस्तुत करने के साथ ही साथ उनकी काव्योपलब्धियो पर विचार भी किया। द्विवेदीजी के खोज-सम्बन्धी कार्यों के विषय में कहा जा सकता है कि उनमें अनेक ग्रंथों और अन्य बाह्य प्रमाणों की छानबीन करके गहरी गवेषणा करने की प्रवृत्ति नहीं लक्षित होती। वे तो किसी एक पुस्तक को ले कर उसी की कविताओं के आधार पर या एकाध और की सहायता से कवि या चरितनायक के जीवन के

सम्बन्ध में अपना निर्णय दिया करते थे और साथ ही साथ उसके काव्यात्मक सौष्ठव पर भी कभी परिचयात्मक ढग से, कभी प्रभावात्मक ढंग से प्रकाश डालते चलते थे। बीच-बीच में उस काव्य के गुण-दोषो का संक्षिप्त परिचय भी दे दिया करते थे।

द्विवेदीजी ने प्राचीन कवियो का काव्य-सौन्दर्य दिखाने के लिए अलग से भी निबंध लिखे। इन निबंधो मे अन्यों के समान लेखक ने केवल प्रशंसा ही नही गायी वरन् उनके दोषो की ओर भी दृष्टिपात किया। 'कालिदास की समालोचना', 'कालिदास की निरंकुशता', 'कालिदास की विद्वत्ता', 'मेघदूत रहस्य', 'प्राचीन कवियो के काव्यों में दोषोद्भावना' इत्यादि निबंधइसी कोटि के है। कालिदास की आलोचना में भी द्विवेदीजी ने अपना नैतिक मानदंड छोडा नही है। कालिदास के उदात्त काव्य-वैभव की अभ्यर्थना करते हुए भी उन्होने नैतिकता के स्वर को पकड़े रखा है। इसीलिए इन्होंने मेघदूत से रघुवंश आदि महाकाव्यो (जिनमें मंगल-भावना निहित है) को श्रेष्ठ स्वीकार किया है। कालिदास महान केवल इसलिए नहीं है कि उन्होंने ऊँचे भावो की बड़ी मार्मिक व्यंजना की है बल्कि वे इसलिए भी महान है कि उनकी काव्य-सृष्टि में जिन सुन्दर चीजो की सृष्टि हुई है वे देश और काल के अनुसार है और उनसे हमे एक नैतिक शिक्षा मिलती है। यहाँ तक कि प्रेम आदि भाव भी इनके द्वारा वहीं सराहे गये है जहाँ वे आदर्श है।

इस काल को पूरी समीक्षा निर्णयात्मक ढंग की है। सभी आलोचक (चाहे किसी प्रवृत्ति के रहे हो) अपनी-अपनी कसौटी पर कृतियो के गुण-दोषों को कस कर उनकी श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता का निर्णय देते थे। द्विवेदीजी भी इस निर्णयात्मक वृत्ति से मुक्त नही है।

मिश्रबन्धु

मिश्रबन्धुओ ने आलोचना के क्षेत्र में व्यापक कार्य किये। ये भी नैतिकता या उपयोगितावाद से खूब प्रभावित थे। इन्होंने स्थान-स्थान पर कृतियों की महत्ता बढाने वाले उपयोगी तत्वों की ओर संकेत किया है। द्विवेदीजी की तरह इन्होंने भी रीतिकाल मे बहुचित्रित शृंगार की आवश्यकता अब साहित्य के लिए नहीं समझी, क्योकि विषय की उपयोगिता भी काव्योत्कर्ष बढ़ाती है और शृंगार में उपयोगिता नही रह गयी है। इनकी दृष्टि में अब 'हिन्दी गद्य में वर्तमान प्रकार के उपकारी विषयों पर रचना की

आवश्यकता है और नाटक-विभाग की पूर्ति और भी आवश्यक है। स्फुट छन्दो के लिए अब स्थान वहुत कम है।'

किन्तु मिश्रवन्धुओ की समालोचना-दृष्टि मे नैतिकता के साथ-साथ साहित्यिकता का भी वडा महत्व था। इन्होने उस काल के अन्य आलोचकों की अपेक्षा कृतियो के साहित्यिक धरातल का विशेष ध्यान रखा। साहित्यिक दृष्टि से ये रस-परंपरा के समर्थक थे किन्तु इन्होंने इस पर जो विचार किया है वह प्राचीन विचारो की आवृत्ति मात्र है और उन्ही प्राचीन विचारो को अपनाकर इन्होने निर्णय दिया है कि रसवादी साहित्य ही स्थायी मूल्य का साहित्य है। ये सामयिक नैतिकता की वात भले करते रहे हों किन्तु कृतियो की व्याख्या सामाजिक और मानसिक परिप्रेक्ष्य मे नही कर सके। रस को भी नये जीवन-सदर्भों के साथ नही जोड़ सके। फिर भी ऐसा लगता है कि ये समय की वदलती हुई स्थितियो और आलोचना के नये रूपो के प्रति सचेत रहने की चेष्टा अवश्य कर रहे थे। इसीलिए इन्होने प्राचीन गुणकथन वाली समीक्षा पद्धति और वर्तमान प्रशंसा और निन्दामूलक आलोचना की खामी पहचान कर आलोचना के शुद्ध रूप को अपनाने पर जोर दिया है। इन्होने सिद्धान्त पर यहाँ-वहाँ की वाते लिखने की अपेक्षा कृति-विशेष के मूल्यो को उद्घाटित करना श्रेयस्कर समझा है, 'जहाँ कविता का वर्णन मुख्य तथा सिद्धान्तों का गौण होगा वहाँ साहित्य समालोचना समझा जायगा, किन्तु जहाँ सिद्धान्तो का प्रचुर कथन हो कर कविता का सूक्ष्म वर्णन उदाहरण की भाँति दे दिया जायगा वहाँ साहित्यिक समालोचना के स्थान पर रचना कथित सिद्धान्तों पर निबंध मात्र मानी जायगी[1]।'

मिश्रवन्धुओ की दो प्रमुख कृतियाँ इनकी समीक्षात्मक उपलब्धि की परिचायक है। चार मोटे-मोटे भागों में बँटा हुआ 'मिश्रवन्धु विनोद' हिन्दी साहित्य का इतिहास है। साहित्य का इतिहासकार विशेष-विशेष कालों की विशेषताओं को उन कालो की परिस्थितियों की सापेक्षता में उद्घाटित करता है और प्रत्येक काल के जीवत या ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान साहित्यकार को क्रम से चुन कर उनका मूल्यांकन करता है। 'मिश्रवंधु विनोद' इतिहासकार के इन दोनो दायित्वो को पूरा न कर सकने के कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शव्दो में कवि-इतिवृत्त-संग्रह मात्र है।

'हिन्दी नवरत्न' इनका दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथ है। मिश्रवन्धुओ ने इस पुस्तक में अपने मन से नव श्रेष्ठ कवियों को छाँट कर संगृहीत कर दिया है।

१. मिश्रवन्धु विनोद, पृष्ठ १६५।

इन नवो कवियो को विना किसी निश्चित आधार या कसौटी के मनमाने ढंग से क्रम में या अलग-अलग कोटियो में सजा दिया है। सूर, तुलसी और देव में प्रवृत्तिमूलक या काव्यात्मक मूल्य मूलक क्या भेद थे इसे समझे विना उन्हे एक श्रेणी में डाल दिया गया है। इन कवियो के युगो का विश्लेपण भी नहीं किया गया है। कुल मिला कर मिश्रवन्धु आधुनिकता और परंपरा के संकट मे फँसे दीखते है। नवीनता के लिए ललक तो है किन्तु उसे आँक पाने की चमता इनमे नहीं है। अतः इनकी समीक्षाओ का महत्त्व ऐतिहासिक है।

नवीन आदर्शवादी परंपरा में और भी कितने लेखको के नाम आ सकते है जो दो-चार निवंध लिख कर रह गये या सम्यक् रूप से प्रकाश में नहीं आ सके। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में ये नाम और उनकी फुटकर कृतियाँ दिखाई पड़ती है।

रीतिवादी परंपरा

कहा जा चुका है कि इस युग मे भी रीतिवादी साहित्य को ही आदर्श साहित्य मानने वालों का भी एक दल था। इस वर्ग की समीक्षाओ को पढ़ने पर उनकी विशेपताओ को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. ये समीक्षाएँ तुलनात्मक है।

२. हिन्दी के रीतिकालीन कवि—विशेपतया देव, विहारी—समीक्षा के विपय वने।

३. समीक्षा का मानदंड समाज निरपेक्ष है, रीतिवद्ध मान्यताओ के आधार पर निर्मित है, अर्थात् भाव की अपेक्षा शैलीगत चमत्कार को विशेप महत्व दिया गया है, इसमें आलोच्य के वस्तुगत गुण-दोपो के स्थान पर भाषा के गुण-दोप की परीक्षा की गयी है। प्रवंध से अधिक महत्त्व मुक्तक को दिया गया है।

४. इन समीक्षाओं का स्वर प्रभाववादी है। अर्थात् इनमे व्याख्या के स्थान पर दरवारी वाहवाही का स्वरूप लक्षित होता है, दोप-निर्देश के समय गाली-गलौज की पद्धति प्रधान हो उठती है।

पद्मसिंह शर्मा

पं० पद्मसिंह शर्मा रीतिकालीन आदर्श पर तुलनात्मक समीक्षा के प्रवर्तक थे। इन्होने विहारी की कविताओ को आदर्श मान कर अनेक पूर्ववर्ती और

परवर्ती कवियो के साथ उनकी तुलना की। शर्माजी ने विहारी की कविताओ का मूल्याकन करने के लिए पहले पुष्ट भूमिका तैयार कर ली यानी सैद्धान्तिक रूप से *श्रृंगार रस का समर्थन कर लिया।* *श्रृंगार रस के समर्थन* मे इन्होने जो कुछ कहा वह विश्लेपणपरक नहीं हो सका। इन्होने वड़े सतही ढग से श्रृंगार के समर्थन में दो-चार वाते इधर-उधर की कीं। श्रृंगार मे जो अश्लीलता है उसका वचाव करते हुए शर्माजी ने यह कहा कि विहारी आदि के ऐसे चित्रण लोगों को वैसा करने की सीख नहीं देते वरन् उधर से हटने की प्रेरणा देते है। किन्तु यह तर्क वस्तुगत नही है। इन कवियो ने इतना रस ले कर श्रृंगार के अश्लीलतम अंशो को चित्रित किया है कि उनका प्रभाव वर्जनात्मक नहीं हो सकता। इस प्रकार विकास-काल में जो श्रृंगार के अतिरेक और उसके अश्लील या समाज-विरोधी रूप के विरुद्ध अभियान प्रारंभ हुआ था उसका प्रभाव इन रीतिवादी परंपरा वालों पर नहीं पडा।

तुलनात्मक पद्धति पर लिखा गया 'विहारी की सतसई' शर्माजी की मुख्य समीक्षा-पुस्तक है। इस पुस्तक में शुरू में *श्रृंगार रस के औचित्य का* प्रतिपादन है, वाद मे विहारी का मूल्यांकन। शर्माजी ने यह प्रमाणित किया कि विहारी की सतसई सारी सतसइयों की परंपरा में सवसे आगे है। विहारी के श्रृंगार की काव्यात्मकता की तुलना अन्य रीतिकालीन कवियो की काव्यात्मकता से की गयी है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि विहारी सवसे वडे कवि है। विहारी ने यदि अपने किसी पूर्ववर्ती कवि से कोई भाव लिया तो उसमें अपनी अनोखी सूझ-बूझ और प्रतिमा से चार चाँद लगा दिये किन्तु यदि किसी ने विहारी के भावो को लिया तो भद्दा करके छोड़ा।

शर्माजी ने अगरेजी, संस्कृत और उर्दू की तुलनात्मक समीक्षा की चर्चा करते हुए हिन्दी में इस प्रकार की आलोचना पर बल दिया। इन्हें हिन्दी में इस प्रकार की आलोचना के प्रवर्तन का श्रेय भी मिलना चाहिए। किन्तु इनकी सीमाएँ स्पष्ट है। अन्य साहित्यो को तुलनात्मक समीक्षा की गंभीरता, विपयगत विवेचन और व्याख्यापरक शैली इन्हें नही मिल सकी। एक तो इनका विपय सीमित था अर्थात् एकमात्र विहारी ही इन्हे कवि रूप में दिखाई पड़ते थे, दूसरे इनकी समीक्षा-पद्धति व्याख्यापरक और वस्तुगत न हो कर दरवारी ढंग की हो गयी थी, जिसे आगे वढाना हुआ उसे अनेक मुहावरों, सूक्तियो, प्रशंसात्मक उक्तियो की मालाओ से सजा दिया और जिसे काटना हुआ उसे अपने कुतर्क के वल पर उसकी त्रुटियाँ ढूँढ कर अच्छाइयाँ आँख से ओझल कर काट दिया। ऐसी आलोचनाओ मे सार की वात नहीं

मिल पाता। यह शैली के चमत्कार द्वारा लेखको की शैली के चमत्कार की की गयी आलोचना है।

शर्माजी की चटपटी शैली, नाज-अंदाज से भरे छोटे-छोटे वाक्य उनके व्यक्तित्व के परिचायक हो सकते है किन्तु ये समीक्षा का गभीर उत्तरदायित्व निवाहने में एकदम असमर्थ है। यह सही है कि प्रभावात्मक शैली में लिखी गयी प्रशंसात्मक और निन्दात्मक समीक्षा थोड़ी बहुत मात्रा में उस काल के सारे आलोचको में दिखाई पड़ती है किन्तु द्विवेदीजी आदि की समीक्षाओ में वस्तुगत विवेचन और व्याख्यात्मक शैली के विकास की स्पष्ट संभावनाएँ दिखाई पडती है।

तुलनात्मक समीक्षा अपने आप में बुरी चीज नहीं है किन्तु उसका जो स्वरूप इन आलोचकों द्वारा अपनाया गया वह बुरा था। इसी पद्धति को वैज्ञानिक रूप दे कर आचार्य शुक्ल और स्वच्छन्दतावादी, प्रगतिवादी, प्रयोग-वादी आलोचको ने इस क्षेत्र में बडा अच्छा कार्य किया। अतः पद्म सिंह शर्मा को इस प्रकार की समीक्षा-पद्धति का सूत्रपात करने का ऐतिहासिक महत्त्व मिलना चाहिये।

लाला भगवान दीन

दीनजी को शर्माजी की तरह नये साहित्य में आस्था नहीं थी। वे समीक्षा-क्षेत्र में आलोचक की सहृदयता ले कर नहीं आक्रामक का-सा रोष और ईर्ष्याभाव ले कर आये थे। शर्माजी द्वारा शुरू किये गये विहारी और देव के झगड़े में काफी लोग आ गिरे। मिश्रबंधुओ ने विहारी की अपेक्षा देव को श्रेष्ठ माना तो दीनजी खीझ उठे और उन्होने विहारी पर लगाये गये दोषो को देव पर थोप दिया। ये दोष भी भावगत नहीं है, शैलीगत है, और लेखक की मौलिक सूझ-बूझ की उपज नहीं है। शास्त्रो मे जो दोष गिनाये गये है उन्हीं को स्थूल भाव से लेखक ने गिना दिया है।

देव तो मानो दीनजी के दुश्मन मालूम पड़ते है। जहाँ तक संभव हो सका है उन्हे लेखक ने विहारी और केशव की तुलना में पटकने का प्रयास किया है। इन दोनो कवियो में किसकी भाव-संपत्ति अधिक समृद्ध है, किसमें मौलिक उद्भावनाएँ है, किसमें संवदेना का विस्तार और गांभीर्य है, इसकी परख न कर लेखक ने काव्य के केवल रूढ़िवद्ध ऊपरी विधान तक ही अपने को सीमित रखा है। ऊपरी विधान पर भी चर्चा करते समय लेखक निस्संग-बुद्धि नहीं रह सका है। वह घोर पक्षपात पर उतर आया है। यह द्विवेदी-कालीन निर्णयात्मक समीक्षा का कटुतम रूप है।

३

उत्कर्ष-युग (व्याख्यात्मक आलोचना)

(सन् १९२०–अब तक)

प्रथम उत्थान

दीनजी की समीक्षा काव्य के नवीन स्वरूप तथा भावगत सौन्दर्य पर जोर न दे सकने के कारण तत्कालीन कवियो की खुरदरी शैली वाली कविताओ के लिए बड़ी ही कटु और सरोप सिद्ध हुई। लालाजी काव्य में नये विषय और नयी शैली के प्रवर्तक द्विवेदीजी तथा उनके शिष्य कवि मैथिलीशरण गुप्त के प्रति खार खाये बैठे थे। इसीलिए उन्होंने 'भारत भारती' और 'जयद्रथ-वध' की आलोचना करते समय उनके विषय या भाव-पक्ष को छोड़ कर खोज-खोज कर व्याकरण-सम्बन्धी, शब्दचयन-सम्बन्धी, छन्द-भग-सम्बन्धी, कठिन और अनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग-सम्बन्धी, छन्द में यति-भंग-सम्बन्धी, विराम-चिन्हों के निर्वाह-सम्बन्धी, तुक-सम्बन्धी ऊपरी दोष दिखाये है।

लालाजी की आलोचना में साहित्यिक आक्षेपों के साथ ही साथ व्यक्तिगत आक्षेप भी खूब दिखाई पड़ते है। ये आक्षेप गाली-गलौज के स्तर पर उतर आते थे। आलोचना का यह स्वरूप साहित्य को समझने में कहाँ तक सहायक हुआ, यह तो वे आलोचक ही जाने, हाँ उस काल की प्रशंसात्मक और निन्दात्मक शैली में लिखी जाने वाली आलोचनाओं और आलोचकों को समझने में अवश्य ये मददगार है।

कृष्णविहारी मिश्र

कृष्णविहारी मिश्र ने 'देव और विहारी' पुस्तक लिख कर इस चर्चा को आगे बढ़ाया। मिश्रजी इस परंपरा के सबसे अधिक सुलझे हुए और संतुलित आलोचक है। अन्यो की अपेक्षा इनकी दृष्टि कृति के भाव-पक्ष की ओर रही। इन्होने भूमिका में विकासकालीन आलोचको की निरंकुशता, अहमन्यता आदि पर कडी चाट की। इनकी दृष्टि में आलोचक अपनी अहमन्यता में फूला-फूला अपने को कृतिकारो का उद्धारक मानता है और कृति की सहृदय व्याख्या करने के स्थान पर अपने पांडित्य और सिद्धांत का प्रदर्शन करने लगता है।

मिश्रजी ने विहारी से देव को श्रेष्ठ स्वीकार करते हुए भी विहारी को सहृदयता के साथ परखा। इनके स्वर मे पद्मसिह शर्मा और लाला भगवान दीन के स्वर की सी वाहवाही या निन्दा का उन्मेष नहीं था बल्कि उसमें विवेचन का हलका-हलका गांभीर्य था।

जहाँ तक साहित्य की परीक्षा का प्रश्न है इन्होंने भी देशकालानुरूप कोई मानदण्ड न निर्धारित कर रसो के प्राचीन स्वरूप और उनके विकसित

रूपों के पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट न कर केवल रसों की चर्चा करके छुट्टी पा ली है।

बाल मुकुन्द गुप्त

गुप्तजी मे विकास-युग की दोनो प्रवृत्तियो का संयोग दिखाई पड़ता है। वास्तव में गुप्तजी का सम्बन्ध जितना भाषा और व्याकरण-सम्बन्धी छिड़ने वाले विवाद से था उतना आलोचना से नही। इन्होने जो आलोचनाएँ (रिव्यू) की है उनमें साहित्यिक व्याख्या या मूल्यांकन के स्थान पर नैतिकता का आग्रह ही अधिक दीखता है। गुप्त जी ने 'अश्रुमती' नाटक, 'अधखिला फूल', 'गुलशने हिन्द', 'तुलसी सुधाकर', 'तारा उपन्यास, 'प्रवासी की आलोचना', 'बंगला साहित्य' इत्यादि की रिव्यू प्रस्तुत की है। 'अश्रुमती' की आलोचना इनमें सबसे महत्व की आलोचना है। 'अश्रुमती' बँगला नाटक है जिसका हिन्दी-रूपान्तर उदित नारायण लाल ने की है। 'अश्रुमती' में कल्पना के सहारे एक बहुत बडी अनैतिहासिक और अनैतिक घटना की सृष्टि की गयी है। इसमें राणा प्रताप की [कल्पित] लड़की अश्रुमती और अकबर के पुत्र सलीम का प्रेम दिखाया गया है। यह प्रेम प्रलाप की अवस्था को पहुँचा हुआ है। गुप्तजी ने इस नाटक की इसी अनैतिकता पर जोरदार प्रहार किया है।

३

उत्कर्ष-युग (व्याख्यात्मक आलोचना)

(सन् १९२०–अब तक)

प्रथम उत्थान

सर्वप्रथम उच्च साहित्य के स्वरूप की रचना करने वाले आधारभूत तत्वो की छानवीन की, वाद में उसी के भीतर से नैतिकता के स्वर को उभारा।

शुक्लजी ने भारतीय साहित्य की महत्तम उपलब्धियो का मंथन कर यह निष्कर्ष निकाला कि भावों की गहराई और उदात्तता ही महान साहित्य की रचना करने वाले प्रमुख तत्व है। जो काव्य मानव जीवन और जगत के जितने ही अधिक मार्मिक और सामान्य भावो को अपने में ग्रहण कर पाठको का मानसिक स्तर ऊँचा और संवेदनशील वना सकेगा वह काव्य उतना ही महान होगा। इस प्रकार शुक्लजी रस को ही काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार करते है। अतएव उनके मूल्यांकन की पद्धति साहित्यिक है। किन्तु साथ ही वे भावो का सम्वन्ध सामाजिक परिष्कार, लोकमंगल आदि से जोड कर सहज ही साहित्य को नैतिकता से संपृक्त कर देते है।

आचार्य शुक्ल विकासकालीन समीक्षा के भीतर से विकसे थे अतएव उन पर विकासकालीन समीक्षा और विचार-पद्धति की वड़ी छाप थी। अर्थात् वे भी शैली की अपेक्षा विषय और भाव को महत्त्व देते थे, विषय और शैली को अलग कर देखने वाले थे, मुक्तक कविता की अपेक्षा प्रवन्ध कविता या वर्णनात्मक कविता को अधिक पसन्द करते थे क्योकि ऐसी कविता में भावों का वैविध्य और रस का प्रवाह लक्षित होता है। किन्तु आचार्य शुक्ल ने अपने स्वतन्त्र साहित्यिक व्यक्तित्व का विकास किया। वे द्विवेदीकालीन तत्वो से प्रभावित हो कर भी स्वतन्त्र चिन्तन-मनन और साहित्यिक दृष्टि के नाते एक अलग विचार परंपरा के प्रवर्तक वने।

आचार्य शुक्ल ने काव्य की आत्मा के रूप में रस को स्वीकार किया। भारतीय आचार्यों के रस को आचार्य शुक्ल ने सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्वन्धो के संकुचित मंडल से ऊपर उठा कर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत की नाना गतियो के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सवकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारो का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्वन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।'

रस-दशा तक ले जाने के लिए विषय का सामान्य या सुपरिचित होना आवश्यक है। जिन विषयो से हम परिचित है उनसे हमारा रागात्मक

सम्वन्ध वना हुआ है। अतः ऐसे विषयों में हमारे राग-वोध या भाव-वोध को जगा कर रस-दशा तक ले जाने की क्षमता होती है। रस क्या है—हृदय की मुक्तावस्था का नाम।

शुक्लजी ने रस को काव्य की आत्मा तो स्वीकार अवश्य किया किन्तु रस का नये ढंग से विवेचन किया। आधुनिक काल के चिन्तन के आलोक में उसे नवीन अर्थमत्ता प्रदान की। पश्चिम के कलावादियो या अभिव्यंजना-वादियों के विरोध में शुक्लजी ने रस की प्रतिष्ठा की। रस भारतीय साहित्य का वहुचर्चित विषय है किन्तु शुक्लजी ने रस को पिष्ट-पेषित ढंग से न स्वीकार कर उसे नवीन आवश्यकताओ तथा नये विचारो के सदर्भ मे ग्रहण किया। प्राचीन आचार्यों से रस के सदर्भ में जो वाते छूट गयी थी, या दोष रह गये थे उन्हे शुक्लजी ने ठीक किया।

शुक्लजी ने रस-निष्पत्ति के लिए साधारणीकरण की प्रक्रिया को अनिवार्य माना। जव पाठक या श्रोता अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बन्धो के घेरे से निकल कर उस सामान्य भाव भूमि पर पहुँचता है जहाँ उसका हृदय लोक-हृदय हो जाता है तव साधारणीकरण की अवस्था होती है। यह शुक्लजी का अपना दिया हुआ नाम है।

प्राचीन आचार्यों ने इतना भर कह दिया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के योग से स्थायी भाव रस दशा धारण करता है। किन्तु शुक्ल-जी ने साधारणीकरण या रस-निष्पत्ति के लिए केवल आलंवन अपेक्षित नहीं समझा वल्कि उसमें आलवनत्व धर्म की स्थापना आवश्यक मानी। राम रावण पर क्रोध करते है तो हमारा राम के साथ तादात्म्य होता है, हम भी रावण पर क्रोध करते हैं लेकिन जव राम रावण के क्रोध का आलंवन वनते है तव हम रावण के साथ राम पर क्रोध नही करते वरन् हमें रावण पर क्रोध होता है। दोनों मे अलग-अलग आलवनत्व धर्म की स्थापना है। शुक्लजी की यह उद्भावना नयी है किन्तु आज के जटिल संवेगों और उलझे हुए गुणो वाले व्यक्तित्वो के युग में यह कहाँ तक उपयोगी है यह प्रश्न उठ खड़ा होता है। आज के साहित्य में अन्तर्द्वन्द्वो की जो सृष्टि हो रही है (जिसमें पात्र का दुहरा व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है) वह रस की सीधी-साधी रेखा में कहाँ तक अँट पायेगी, विचारणीय है।

रस के सम्बन्ध में शुक्लजी की दूसरी प्रमुख नयी मान्यता है कि काव्यानु-भूति और प्रत्यक्षानुभूति (लोकानुभूति) में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। 'क्रुद्ध

प्रथम उत्थान

(सन् १९२०–१९३५)

व्याख्यात्मक समीक्षा को समीक्षा का सबसे उत्कृष्ट रूप माना गया है। निर्णयात्मक समीक्षा में समीक्षक के सामने पहले से बना-बनाया एक मानदण्ड होता है, एक शास्त्रीय पद्धति होती है। उसी मानदण्ड पर हर नये-पुराने साहित्य को कस कर वह उसके मूल्य का निर्णय देता है। इस प्रकार की समीक्षा में रचना के युगीन परिवेश में उभरने वाले नवोन्मेष के मूल्यांकन का अवकाश नहीं रहता और इस प्रकार साहित्य युग और समाज के नवीन चेतना-पुंजो को अपने में समाहित कर अपना विकास नहीं कर पाता। विकास-काल में द्विवेदीजी आदि ने नये साहित्य के नये मूल्यो की ओर दृष्टिपात कर साहित्य के विकास का नया क्षेत्र खोला किन्तु दूसरा वर्ग समय के साथ न चल सका। वह पुराने मूल्यो को पकड़े हुए निर्णय देने के चक्कर में ही रहा। द्विवेदीजी आदि नये दृष्टिकोण के समीक्षको ने नये मूल्यो और व्याख्यात्मक पद्धति का द्वार अवश्य खोला किन्तु निर्णयात्मक प्रणाली से वे भी नहीं बच सके। अत कुल मिला कर विकास-काल में व्याख्यात्मक समीक्षा का सूत्रपात मात्र हुआ। उसे साहित्यिकता की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को।

व्याख्यात्मक समीक्षा की उपलब्धि इसी बात में है कि वह नव सर्जन और प्राचीन सर्जन सभी की आधारभूत भूमियों को पहचाने, सर्जन की मूल-भूत आवश्यकताओं को परखे, उसके स्रोतो और प्रभावित करने वाले संदर्भों को समझे और इन तमाम सम्बन्ध सूत्रो से निर्मित होने वाली रचना की चेतना, भाव-छवि और विशिष्ट तथा सामान्य विशेषताओ का उद्घाटन करे और मूल्यांकन करे।

आचार्य शुक्ल ने आलोचना को साहित्यिक रूप प्रदान किया। साहित्य के वे मूलभूत तत्व कौन-से हैं जो रचना को महत्ता और उच्च मूल्य प्रदान करते है, इस पर आचार्य शुक्ल ने गहराई से विचार किया। आपने द्विवेदी-काल के विचारकों की तरह नैतिकता के स्वर को साहित्यिकता पर ऊपर से लादा नही या उसे अलग से प्रधान नहीं मान लिया बल्कि उन्होने

सर्वप्रथम उच्च साहित्य के स्वरूप की रचना करने वाले आधारभूत तत्वो की छानबीन की, बाद में उसी के भीतर से नैतिकता के स्वर को उभारा।

शुक्लजी ने भारतीय साहित्य की महत्तम उपलब्धियो का मंथन कर यह निष्कर्ष निकाला कि भावों की गहराई और उदात्तता ही महान साहित्य की रचना करने वाले प्रमुख तत्व है। जो काव्य मानव जीवन और जगत के जितने ही अधिक मार्मिक और सामान्य भावो को अपने में ग्रहण कर पाठकों का मानसिक स्तर ऊँचा और संवेदनशील बना सकेगा वह काव्य उतना हो महान होगा। इस प्रकार शुक्लजी रस को ही काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार करते है। अतएव उनके मूल्यांकन की पद्धति साहित्यिक है। किन्तु साथ ही वे भावो का सम्बन्ध सामाजिक परिष्कार, लोकमंगल आदि से जोड़ कर सहज ही साहित्य को नैतिकता से संपृक्त कर देते है।

आचार्य शुक्ल विकासकालीन समीक्षा के भीतर से विकसे थे अतएव उन पर विकासकालीन समीक्षा और विचार-पद्धति की बड़ी छाप थी। अर्थात वे भी शैली की अपेक्षा विषय और भाव को महत्त्व देते थे, विषय और शैली को अलग कर देखने वाले थे, मुक्तक कविता की अपेक्षा प्रबन्ध कविता या वर्णनात्मक कविता को अधिक पसन्द करते थे क्योकि ऐसी कविता में भावों का वैविध्य और रस का प्रवाह लक्षित होता है। किन्तु आचार्य शुक्ल ने अपने स्वतन्त्र साहित्यिक व्यक्तित्व का विकास किया। वे द्विवेदीकालीन तत्वो से प्रभावित हो कर भी स्वतन्त्र चिन्तन-मनन और साहित्यिक दृष्टि के नाते एक अलग विचार परंपरा के प्रवर्तक बने।

आचार्य शुक्ल ने काव्य की आत्मा के रूप में रस को स्वीकार किया। भारतीय आचार्यों के रस को आचार्य शुक्ल ने सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धो के संकुचित मंडल से ऊपर उठा कर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत की नाना गतियो के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियो का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारो का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।'

रस-दशा तक ले जाने के लिए विषय का सामान्य या सुपरिचित होना आवश्यक है। जिन विषयों से हम परिचित है उनसे हमारा रागात्मक

सम्बन्ध बना हुआ है। अतः ऐसे विषयो में हमारे राग-बोध या भाव-बोध को जगा कर रस-दशा तक ले जाने की क्षमता होती है। रस क्या है—हृदय की मुक्तावस्था का नाम।

शुक्लजी ने रस को काव्य की आत्मा तो स्वीकार अवश्य किया किन्तु रस का नये ढंग से विवेचन किया। आधुनिक काल के चिन्तन के आलोक में उसे नवीन अर्थमत्ता प्रदान की। पश्चिम के कलावादियो या अभिव्यंजनावादियों के विरोध में शुक्लजी ने रस की प्रतिष्ठा की। रस भारतीय साहित्य का बहुचर्चित विषय है किन्तु शुक्लजी ने रस को पिष्ट-पेपित ढंग से न स्वीकार कर उसे नवीन आवश्यकताओ तथा नये विचारो के संदर्भ मे ग्रहण किया। प्राचीन आचार्यों से रस के सदर्भ में जो बातें छूट गयी थी, या दोष रह गये थे उन्हें शुक्लजी ने ठीक किया।

शुक्लजी ने रस-निष्पत्ति के लिए साधारणीकरण की प्रक्रिया को अनिवार्य माना। जब पाठक या श्रोता अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बन्धो के घेरे से निकल कर उस सामान्य भाव भूमि पर पहुँचता है जहाँ उसका हृदय लोक-हृदय हो जाता है तब साधारणीकरण की अवस्था होती है। यह शुक्लजी का अपना दिया हुआ नाम है।

प्राचीन आचार्यों ने इतना भर कह दिया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के योग से स्थायी भाव रस दशा धारण करता है। किन्तु शुक्लजी ने साधारणीकरण या रस-निष्पति के लिए केवल आलंबन अपेक्षित नहीं समझा बल्कि उसमें आलंबनत्व धर्म की स्थापना आवश्यक मानी। राम रावण पर क्रोध करते है तो हमारा राम के साथ तादात्म्य होता है, हम भी रावण पर क्रोध करते हैं लेकिन जब राम रावण के क्रोध का आलबन बनते है तब हम रावण के साथ राम पर क्रोध नहीं करते वरन् हमे रावण पर क्रोध होता है। दोनो मे अलग-अलग आलंबनत्व धर्म की स्थापना है। शुक्लजी की यह उद्भावना नयी है किन्तु आज के जटिल संवेगो और उलझे हुए गुणों वाले व्यक्तित्वों के युग में यह कहाँ तक उपयोगी है यह प्रश्न उठ खड़ा होता है। आज के साहित्य में अन्तर्द्वन्द्वो की जो सृष्टि हो रही है (जिसमें पात्र का दुहरा व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है) वह रस की सीधी-साधी रेखा में कहाँ तक अँट पायेगी, विचारणीय है।

रस के सम्बन्ध में शुक्लजी की दूसरी प्रमुख नयी मान्यता है कि काव्यानुभूति और प्रत्यक्षानुभूति (लोकानुभूति) में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। 'कुछ

लोगों का यह ख्याल कि काव्यानुभूति एक और ही प्रकार की अनुभूति है उसका प्रत्यक्ष या असली अनुभूति से कोई सम्बन्ध नही, या तो कोई ख्याल नही या गलत है।' शुक्लजी काव्यानुभूति को लोकानुभूति का उदात्त और अवदात रूप मानते है। अत वे ब्रह्मानद सहोदर के रूप में रस के ग्रहण को केवल अर्थवाद मानते है। उनकी दृष्टि से काव्यानुभूति की उच्चता सिद्ध करने के लिए यह नाम दे दिया गया है।

इसका फल यह हुआ कि जहाँ प्राचीन आचार्य रस को आनन्दमय मानते है वहाँ शुक्लजी रस को सुखात्मक और दु खात्मक दोनो रूपो में स्वीकार करते है। उनका कहना है कि करुण रस के काव्य या नाटक पढ़ने या देखने पर आँसू का आना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दुखानुभूति का ही लक्षण है। शुक्लजी की इस मान्यता ने रस को लोकानुभूति के साथ सम्बद्ध रख कर काव्य को शुद्ध समाज की वस्तु स्वीकार किया। 'काव्यानन्द ब्रह्मानन्द सहोदर है' इस व्याख्या से शुक्लजी के मतानुसार काव्य में अलौकिक आलंवनो और नकली आध्यात्मिक अनुभूतियो का वोलवाला हो गया था। काव्य जगत का प्राकृत अधार छोड कर रहस्यमय लोक से अपने उपादान ग्रहण करने लगा था।

शुक्लजी ने अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर रस की कोटियाँ निर्धारित की है जो कि पुराने आचार्यों द्वारा नहीं की गयी थी। रस की उत्तम कोटि और मध्यम कोटि होती है। उत्तम कोटि वह है जहाँ आलम्बनत्व-धर्म की स्थापना के कारण रस की पूर्ण निष्पत्ति होती है। मध्यम कोटि वह है जहाँ आलम्बनत्व-धर्म की स्थापना न हो सकने के कारण हम आलम्बन के साथ तादात्म्य न अनुभव कर तटस्थ हो कर उसके शील का निरीक्षण करे। इसके अतिरिक्त, शुक्लजी ने क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील दशा के आधार पर रस के विभाग किये है। शुक्लजी ने रस को ले कर और भी वडे सूक्ष्म-सूक्ष्म विभेद किये है जो शुक्लजी की मौलिक उद्भावना के परिचायक है।

लोक-धर्म

कहा जा चुका है कि शुक्लजी ने रस को सामाजिक भूमिका पर प्रतिष्ठित कर काव्य का सम्बन्ध लोकमंगल से सहज भाव से जोड दिया। रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में औचित्य-निर्वाह का प्रश्न जुड़ा हुआ है। अत रस-निष्पत्ति से सामाजिक मर्यादा या लोक-धर्म का पालन अपनेआप होता चलता है। किन्तु रसवादी काव्यों में भी कुछ ऐसे हो सकते है जिनमें रस का एक ही स्वरूप दिखाई पड़ता हो, कुछ ऐसे हो सकते है जिनमें जीवन

की बहुमुखी छवि अंकित होने से रसो का वैविध्य दिखाई पडता हो। शुक्लजी ने रामचरित मानस का गहन अध्ययन करने के कारण शक्ति, शील और सौन्दर्य से मंडित राम को काव्य-नायको का आदर्श माना और रामचरित मानस को रस और लोक-धर्म की उच्चतम गरिमा से संयुक्त काव्य का प्रतिमान।

शुक्लजी ने लोक-धर्म के आधार पर काव्य के दो भेद किये— (१) आनंद की साधनावस्था वाले काव्य, (२) आनंद की सिद्धावस्था वाले काव्य। आनन्द की साधनावस्था वहाँ दिखाई पडती है जहाँ जीवन की अनेक परिस्थितियों और प्रयत्नो के भीतर सौन्दर्य का साक्षात्कार किया गया हो। करुणा और प्रेम ये दोनो भाव मंगल का विधान करने वाले होते है। आनन्द की सिद्धावस्था में 'सब प्रकार के प्रयत्नो की अशान्ति तिरोहित और उपभोग की कला जगी रहती है। आनन्द का ध्वज यहाँ चलता नही दिखाई पड़ता। इस भूमि का प्रवर्तक भाव है प्रेम।'

इसी कसौटी पर शुक्लजी ने अनेक काव्यो को कसा और कृतियो की भावात्मक गहराई का उद्घाटन करते हुए भी तारतम्य-निरूपण के अवसर पर अपने लोक-मंगल वाले प्रतिमान को भी सामने रखा। इसीलिए उन्हे मुक्तको की अपेक्षा प्रवन्ध काव्य अधिक उपयुक्त जान पडे। सूर की अपेक्षा तुलसी और छायावादी गीतकारो की अपेक्षा तत्कालीन सामान्य प्रवन्धकार उन्हें अधिक प्रिय लगे।

शुक्लजी ने 'काव्य में प्रकृति का ग्रहण कैसे हो' इस पर भी व्यापक विचार किया। काव्य-सम्वन्धी अन्य प्रश्नो पर भी शुक्लजी ने गहराई से विचार किया, मसलन काव्य और कला का सम्वन्ध, भाव का निरूपण, कल्पना का स्वरूप और काव्य में उसका स्थान, क्रोचे का अभिव्यजनावाद, विविध वाद आदि।

सिद्धान्त-निरूपण के साथ ही साथ शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य की अनेक कृतियो का वड़ा ही मार्मिक विवेचन और मूल्यांकन किया। शुक्लजी में एक प्रौढ़ आलोचक की सारी क्षमताएँ उत्कृष्ट रूप में विराजमान थी। वे गहन अध्ययनशील थे, उनकी अर्थ ग्रहण की शक्ति वडी ही गहरी और सूक्ष्म थी, लोक-हृदय और कविहृदय के साथ उनके हृदय का गहरा तादात्म्य था तथा उनमें प्रौढ़ पांडित्य एवं प्रतिभा थी। इसीलिए वे सिद्धान्त एवं निरूपण में जितने सशक्त है उससे अधिक सशक्त है कृतियो की व्याख्या और मूल्यांकन मे। 'स्वदेश में अथवा विदेश में रसग्राहिता के ऐसे असदिग्ध क्षमता-सम्पन्न समीक्षक कम मिलेंगे। कौन सा काव्य वस्तुत सुन्दर, वस्तुत:

महान है, इसे पहचानने में शुक्लजी की अन्तर्भेदिनी दृष्टि कभी धोखा नहीं खाती, भले ही वे सदैव उस दृष्टि का सफल विवेचनात्मक मण्डन प्रस्तुत न कर सके।'[१] शुक्लजी ने जीवन के बड़े ही व्यापक फलक पर साहित्य को देखा है, अतः वे काव्यकृतियो की सुन्दरता की व्याख्या लोक-जीवन की मार्मिक छवियो, अनुभूतियो की सापेक्षता में करते है। यह अवश्य है कि कही-कहो उनकी जीवन और काव्य-सम्बन्धी मान्यताएँ और रुचियाँ किसी कृति के उचित मूल्यांकन में बाधक बन जाती हैं किन्तु व्याख्या में वे कहीं नहीं चूकते। यदि कोई कृति उनकी रुचि लायक मिल गयी तो उसकी व्याख्या और मूल्यांकन का सौन्दर्य देखते बनता है। वैसे तो हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय शुक्लजी को हिन्दी साहित्य के सभी कृतिकारो पर लिखना पडा है (और थोड़े-थोड़े में जो लिखा है उसका सौन्दर्य अद्भुत है) किन्तु इनकी व्यावहारिक आलोचनाओ का उत्कृष्ट और व्यापक स्वरूप दिखाई पडता है सूर, तुलसी और जायसी के ऊपर लिखी गयी आलोचनाओ में। इन आलोचनाओं में व्याख्यात्मक समीक्षा का प्रौढ़ रूप लक्षित होता है। कवि की भाव-सम्पत्ति को मानव-जीवन की व्यापकता, कविता में व्यक्त दार्शनिक चिन्तनधारा की परंपरा, कवि के व्यक्तित्व इत्यादि अनेक सदर्भों से जोड कर परखा गया है। कवियो की अलग-अलग व्याख्या करते हुए मूल्यांकन के समय वे एक धारा के कई कवियों की तुलना करने लगते है और विकासकालीन समीक्षको की तरह उनके तारतमिक महत्त्व का निर्णय भी देते है। किन्तु इन दोनो कालो की तुलना और निर्णयात्मकता मे एक बहुत बड़ा अन्तर है। शुक्लजी की आलोचना के मूल में व्याख्या की प्रधानता है जब कि विकासकालीन आलोचना के मूल में प्रायः वैयक्तिक रुचि। शुक्लजी की शैली रसात्मक हो कर भी मूलत: बौद्धिक और युक्तिसंगत है जब कि विकास-काल की शैली भावात्मक और प्रशंसात्मक।

शुक्लजी की एक बहुत बड़ी विशेषता है मनोविकारों के सूक्ष्म-सूक्ष्म रूपो और भेदो को समझने की शक्ति। आचार्यों ने जितने मनोविकार गिनाये है उनसे अधिक भाव हो सकते है। शुक्लजी स्थान-स्थान पर उन्हें पहचान कर उनका निर्देश करते है। इसीलिए वे एक ओर यह देखते है कि सूरदास का क्षेत्र तुलसी और जायसी की अपेक्षा परिमित है, दूसरी ओर यह भी देखते हैं कि इस परिमित क्षेत्र मे सूरदास ने जितनी मौलिक उद्भावनाएँ की उतनी अन्य किसी कवि ने नही। उन्होने पहचाना कि

१. साहित्य चिन्ता, डा० देवराज, पृ० १६७।

मानवीय अन्तर्वृत्तियो की जो पकड सूर ने की है वह अतुलनीय है। इस प्रकार शुक्लजी को जहाँ निश्छल भाव-संपत्ति दिखाई पडी वहाँ वे मुग्ध होकर उसके उद्घाटन में लीन हो गये जहाँ चमत्कारो की भीड दिखाई पड़ी, वहाँ चमत्कारो को समझाते हुए भी उसके नकलीपन को उन्होंने काव्य के लिए हेय माना।

डा० श्यामसुन्दर दास

हिन्दी में साहित्यालोचन के सिद्धान्तों को लेकर कोई भी पुस्तक ऐसे व्यवस्थित ढंग से नहीं लिखी गयी थी जिसमें पूर्वी और पश्चिमी साहित्य सिद्धान्त का एक साथ समाहार हो और जिसके आधार पर हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी आलोचना के विविध रूपो और विकासो से परिचित हो सकें। डा० श्याम सुन्दर दास ने इस अभाव को पूर्त्ति 'साहित्यालोचन' द्वारा की। काव्य, नाटक, उपन्यास इत्यादि विविध साहित्यागो की व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए ही इस ग्रंथ का निर्माण हुआ। यह स्पष्ट है कि साहित्यालोचन का निर्माण उच्च कक्षा के विद्यार्थियो की शिक्षा सम्बन्धी तात्कालिक आवश्यकता को पूर्त्ति के लिए हुआ, अतः यह स्वाभाविक था कि इसमें लेखक के मौलिक चिन्तन के स्थान पर पूरब और पश्चिम के विचारको की साहित्य की विविध-विधाओ सम्बन्धी मान्यताओ को सानुक्रम सगृहीत किया जाता। इसीलिए 'साहित्यालोचन' में साहित्य का व्यापक अध्ययन तो अवश्य प्रस्तुत किया गया किन्तु उसमें अपेक्षित गहराई और मौलिक विश्लेषण का अभाव रहा। इस अभाव की कुछ पूर्त्ति इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में हुई।

आचार्य शुक्ल मौलिक विचारक होने के नाते अपनी मान्यताओ में अनेक स्थलो पर विवादग्रस्त है किन्तु बाबू साहब प्राच्य और पाश्चात्य विचारो के संग्रहकर्ता होने के नाते काफी उदार है। इसीलिए बाबू साहब ने उन विचारो और कवियो को भी स्वीकार किया जो शुक्ल जी की उपेक्षा के पात्र बन चुके थे। शुक्ल जी साहित्य को कला के अंतर्गत नहीं मानते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में कला का सम्बन्ध केवल चमत्कार और मनोरंजन से है किन्तु बाबू साहब ने हीगल की परिभाषा के अनुसार साहित्य को कला के अन्तर्गत समाविष्ट किया। उनकी दृष्टि में कला और साहित्य सबकी मूल प्रेरणा एक है। हां, साहित्य (काव्य) सारी कलाओ में उत्कृष्ट है। बाबू साहब ने हीगल के विचारो को आधार बना कर भी अपनी ओर से कुछ जोड़ा है।

साहित्यालोचन में साहित्य के अंगो और उपागों के विवेचन में स्वतंत्र चिन्तन का कही उत्फुल्ल उभार भले न दिखाई पडता हो किन्तु अथक परिश्रम और अध्ययन के आधार पर साहित्यालोचन सम्बन्धी पूर्वी-पश्चिमी उपलब्धियों को समन्वयात्मक रूप से एकत्र कर लेखक ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस प्रकार डा० साहब ने हिन्दी में पहले पहल साहित्य को इतने बड़े कनवास मे देखने का प्रयत्न किया। उन्होने साहित्य के ऊपर प्रभाव डालने वाले जगत् और जीवन, ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओ से साहित्य का सम्बन्ध बता कर साहित्यालोचन के दृष्टिकोण को उदार बनाया। आचार्य शुक्ल ने साहित्य के भावो और रसों को लौकिक भावो और रसों से भिन्न नही माना किन्तु बाबू साहब ने उन्हे अलौकिक माना। किन्तु उन्होने अलौकिक इसलिए माना कि उनका आनन्द स्थूल शरीर और इन्द्रियों के लोक में नही मिलता है वरन् सूक्ष्म मानस-लोक में और कभी-कभी उससे भी ऊपर उठने पर प्राप्त होता है।

बाबू साहब ने साहित्य के ऊपर साहित्यकार के प्रभाव को भी महत्त्वपूर्ण माना। अब तक साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन को देखे बिना साहित्य की समीक्षा होती थी और उसके जीवन के प्रभावो को उसके साहित्य में पहचाने बिना अनेक भ्रांतियो की सृष्टि की जाती रही है। बाबू साहब ने साहित्यकार के व्यक्तित्व की छाप की छानबीन कर व्याख्यात्मक समीक्षा को और भी व्यापक बनाने का प्रयत्न किया।

इस उदारवादी दृष्टि का प्रभाव व्यावहारिक आलोचना पर भी पड़ा। आचार्य शुक्ल का अधिक स्नेह न पा सकने वाले कबीर और छायावादी कवि डा० साहब के अधिक स्नेहभाजन बने क्योकि उन्होने कबीर के सिद्धान्तों, उपदेशो आदि को कबीर के व्यक्तित्व का हो अंश माना। ये सारी चीजें कबीर की अनुभूति के अंग बन गयी थी अत कबीर की कविता की अधिक उदार व्याख्या होनी अपेक्षित थी। बाबू साहब ने यह कार्य पूरा किया। इसी प्रकार छायावादियों को भी नवीन चेतना से सम्बद्ध करके उनके प्रति अधिक न्याय बरतने का प्रयास डा० साहब ने किया। पं० नन्द दुलारे वाजपेयी के शब्दो मे 'श्यामसुन्दर दास जी का साहित्यालोचन उतना मौलिक न हो किन्तु वह साहित्य और उसके अगो की तटस्थ, ऐतिहासिक तथा वास्तविक व्याख्या का प्रयत्न है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शुक्लजी के नैतिक और व्यवहारवादी कलादर्श की अपेक्षा वह अधिक साहित्यिक है।'

आचार्य शुक्ल की परम्परा

आचार्य शुक्ल की उत्कृष्ट समीक्षा पद्धति से प्रभावित होकर उस मार्ग पर चलने के लिए अनेक आलोचको ने उत्साह दिखाया। किसी की परम्परा का अनुगमन करने के दो मार्ग होते है। पहला तो यह कि जिस प्रकार की मौलिक दृष्टि, अदम्य उत्साह और अटूट विश्वास से उस व्यक्ति ने नये मार्गों का अन्वेषण किया और उस अन्वेषण में सारी अनुपयोगी प्राचीन मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया उसी प्रकार अन्य लोग भी करे। यहाँ तक कि पीछे आने वाले ये लोग नवीन चिन्तन की प्रक्रिया मे वाधक वनने वाले उस महान् आलोचक या विचारक (जिसकी परम्परा का अनुगमन किया जा रहा है) के विचारो को भी अस्वीकार कर दे इस प्रकार उस महान् विचारक के समान ही चिन्तन के नये-नये द्वार खोले, नवता की सापेक्षता में नयी दिशाओ का अन्वेपण करें। दूसरा मार्ग वडा सुगम होता है अर्थात् लोग उस महान् विचारक के विचारों और मान्यताओ को ही चिरन्तन सत्य मान कर उसके राजमार्ग पर चलने लगते है। इस प्रकार के लोग उस विचारक के विचारो पर किये गये आक्षेपो को काटते है, नवता के संदर्भ में अनुकूल न वैठ पाने वाले चिन्तन को भी जवरदस्ती 'फिट' करने की चेष्टा करते है। या उसके चिन्तन या सिद्धान्त को आधार वना कर कृतियो की व्याख्या और मूल्याकन करते है। मै आचार्य शुक्ल की इसी परम्परा की चर्चा यहाँ करना चाहूँगा।

आचार्य शुक्ल की आलोचनाओ का उत्कर्ष काल छायावादी युग है। जब कि छायावादी युग में छायावादी साहित्य को आधार वना कर चिन्तन के नये आयाम खुले रहे थे तव शुक्लजी के अनुयायी आलोचक शुक्लजी की छायावाद या प्रगतिवाद सम्वन्धी धारणाओ को थोडे-थोडे अन्तर से (यानी अपने-अपने ढग से) दुहराते नजर आये। यह अवश्य है कि इनमें कुछ अधिक उदार थे, कुछ अधिक अनुदार, कुछ अधिक गहरे उतरे, कुछ सतह पर ही हाथ-पाँव मारते रहे। इन आलोचकों की इतिहास-दृष्टि भी शुक्लजी की इतिहास-दृष्टि से आगे नहीं जा सकी। हाँ, इतना अवश्य है कि इन आलोचको ने यदि किसी विशेप क्षेत्र को चुना तो उसमें उन्होंने शुक्लजी की धारणाओं को आधार वनाते हुए भी अधिक गहराई से काम किया और आवश्यकता पड़ने पर शुक्लजी की धारणाओ से कुछ अलग भी स्थापनाएँ कीं।

इन आलोचकों में महत्त्व के आलोचक है वावू गुलाव राय, डा० जगन्नाथ

प्रसाद शर्मा, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, श्रीलक्ष्मी नारायण सुधांशु, पं० चन्द्रवली पाण्डे। ये आलोचक ऐसे है जो शुक्लजी की परम्परा के होते हुए भी अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व लिये हुए है। शुक्लजी के विचारो को आधार बना कर भी अपनी रुचि, अरुचि, अपने अध्ययन, विवेक और नवीन चेतना का उपयोग अपनी आलोचना मे करते है।

बाबू गुलाब राय

बाबू गुलाब राय की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचनाएँ शुक्ल जी की आलोचनाओं की अपेक्षा उदार और कम विवादास्पद है। इसका पहला कारण तो यह है कि गुलाब राय जी ने क्रम-क्रम से बदलते हुए साहित्य के स्वरूपो को अपनाया। दूसरा कारण यह है कि ये समन्वयवादी है। ये नये-पुराने, पूर्वी-पश्चिमी आचार्यों के मतों के लम्बे-लम्बे उद्धरण देकर उनमें एक समन्वय-सूत्र खोजने के अभ्यासी रहे है। यह कार्य निश्चय ही कम विवादास्पद किन्तु सतही होता है। शुक्लजी जिस बात को मानते हैं बुद्धि और हृदय दोनो से मानते है। उसमे औरो के साथ समझौते का स्थान नही छोडते। उनकी दृढ घोषणा में वैज्ञानिक विवेचन की गहराई और पूर्वग्रह दोनो होते है। बाबू गुलाब राय में पूर्वग्रह भी नही है और अपना कहा जा सकने योग्य कोई सिद्धान्त भी नहीं है। बाबू साहब के स्वर में फैलाव है, बटोरने की प्रवृत्ति है।

बाबू साहब ने पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र और समाज-शास्त्र का भी खुल कर उपयोग किया और उन्हे अपने यहाँ के काव्य के विवेचन के मेल मे बैठाया। बाबू साहब भी मूलत रसवादी है किन्तु अपने उदार स्वभाव के नाते पूरब या पश्चिम के अन्य मतो का भी आदर करते है। बाबू साहब में व्याख्यात्मक आलोचना का बड़ा व्यापक रूप दिखाई पडता है क्योकि ये हर कवि की बडी ही सहानुभूतिपूर्ण आलोचना करते है और उसके सारे वक्तव्य का विवेचन उस कवि की मंसा और देशकाल की प्रकृति के आधार पर करते है। शुक्लजी की ही तरह ये भी काव्य में लोक मंगल की प्रतिष्ठा आवश्यक मानते है। 'काव्य के रूप' और 'सिद्धान्त और अध्ययन' इनके दो साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ है।

डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

डा० शर्मा की सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी कोई भी कृति देखने में नही आयी किन्तु व्यावहारिक समीक्षाओ के बीच-बीच मे आपने जो साहित्य सम्बन्धी

विचार व्यक्त किये है वे आचार्य शुक्ल के ही विचारों के प्रतिपादक है। शर्माजी का मुख्य क्षेत्र व्यावहारिक समीक्षा ही है। किन्तु 'कहानी का रचना विधान' नाम से उनकी एक बडी ही विचारपूर्ण पुस्तक अभी प्रकाशित हुई है जो कहानी के सिद्धान्त पक्ष की बड़ी मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत करती है। डा० शर्मा की प्रस्तुत पुस्तक का महत्त्व दो दृष्टियो से है—एक तो हिन्दी में कहानी के शिल्प पर पहली बार इतनी विशद विवेचना प्रस्तुत की गयी, दूसरे उसकी वैचारिक गम्भीरता बड़ी मूल्यवान है। प्रस्तुत पुस्तक में डा० साहब की दृष्टि शुद्ध वस्तुगत है। इसीलिए वे कहानी के नये और पुराने सभी तत्त्वो की मीमांसा कहानी की सफलता को ध्यान में रख कर करते है। इस पुस्तक में पूर्वी-पश्चिमी विचारो के आलोक में अलग-अलग अध्यायों में कहानी के रचना विधान के अलग-अलग तत्त्वो पर चिन्तनपूर्ण व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयी है।

'प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन', 'हिन्दी गद्य शैली का विकास' और 'हिन्दी गद्य के युग निर्माता' इनकी तीन अन्य मुख्य कृतियाँ है। व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र मे 'प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन' का अपना मूल्य है। डा० साहब ने प्रसाद के नाटको का विवेचन मूलतः 'टैकनीक' को दृष्टि से किया है। 'टैकनीक' किसी भी विधा का प्राचीन आधार होता है किन्तु वह युग के साथ नवीन भी होता चलता है। नाटक के वस्तु-सघटन से उसमें श्रीवृद्धि होती है, उसके स्वरूप में निखार आता है अत शास्त्रीय नियमो का पालन होना चाहिये।

प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

आलोचन-सिद्धान्तो के क्षेत्र में मिश्रजी की अपनी कोई मौलिक देन नहीं है। वे रसवाद को मानते है। उन्होने रसो तथा अन्य काव्य सम्प्रदायो की व्याख्याएँ पुराने लक्षण-ग्रन्थो के आधार पर की है। मिश्रजी संस्कृत के पण्डित है अतएव संस्कृत के आचार्यों के मतो को बडी ईमानदारी और स्पष्टता से प्रस्तुत करते है। कहा जा सकता है कि वे इन पुरानी विपुल सामग्रियो का उपयोग नवीन के निर्माण के लिए नहीं करते वरन् परिचय-ज्ञान प्रस्तुत करने के लिए करते है। इसका कारण यह है कि मिश्रजी साहित्य को नये और पुराने विशेषणों से जोड़ने के पक्षपाती नहीं है। वे उसे एक शाश्वत भाव-धारा का अभिव्यंजक मानते है। पाश्चात्य विचारों का भी ग्रहण मिश्रजी ने उसी मात्रा में किया है जितनी मात्रा में वे भारतीय रसवाद के समीप जान पड़ते हैं। मिश्रजी की शैली तार्किक है, वे त्याग और ग्रहण

तर्कसंगत ढग से करते है। किसी मान्यता के खण्डन-मंडन के अवसर पर वे आचार्य शुक्ल के मतो को आधार बनाते जान पडते है।

मिश्रजी साहित्य को सामाजिक भाव-भूमि से जोडते है। साहित्य सामाजिक रुचियो और लोक-मंगल का अभिव्यजक है। साहित्य को सामाजिक भाव-भूमि और लोक-मंगल से सम्पृक्त करके भी मिश्रजी वदलते हुए युगो की वदलती हुई चेतनाओ का साहित्य में प्रतिफलन देखने के पक्षपाती नहीं है, वे कई अवसरो पर नवीन तत्त्वो के प्रति असहिष्णु हो उठे है। इसका कारण यही है कि सामाजिक भावो और लोकहित के रूपो को एक शाश्वत वस्तु के रूप में देखना चाहते है और उन सबका समाहार वे सहज भाव से भारतीय रसवाद में कर लेते है। रसों के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल ने चिन्तन के नये अध्याय जोड़े। मिश्रजी उन्हीं अध्यायो तक सीमित है, स्वय कुछ नही जोड़ा।

मिश्रजी की इतिहास-दृष्टि आधुनिक नही है क्योकि ये समाज का विकास चक्रवत मानते है। अर्थात् इनकी दृष्टि में इतिहास अपने को दुहराता है। कुछ चिरंतन मानव भाव सत्य या तत्त्व है जो कुछ समय का अन्तराल देकर वार-वार नये-नये रूप में अपने को दुहराया करते है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की ऐतिहासिक दृष्टि वाले लोग इतिहास की धारा को नवयुगीन सत्यो और उनकी नव विकसित चेतनाओ से संपृक्त न कर पा सकने के कारण साहित्य के नित नूतन विकास का आकलन नहीं कर पाते। यही कारण है कि मिश्रजी ऐसे पंडित लोग भी छायावाद की और रीतिकाल की शृंगार भावना में कोई अन्तर नही स्थापित कर पाते। जो भी हो किन्तु इतना स्पष्ट है कि मिश्रजी ने काल विशेष (रीतिकाल) की सामग्रियो और मनो-वृत्तियों का जम कर अध्ययन किया और उस काल की सामान्य प्रवृत्तियो और विशेष विशेष कवियो की साहित्यिक उपलब्धियो का वड़ा गहरा विश्लेषण किया। रीतिकाल की प्रवृत्तियो के उद्गम-स्रोतो के सम्बन्ध में व्यापक और गहरी छानवीन आपने प्रस्तुत की।

मिश्रजी ने रीतिकाल की चर्चा करते समय इतिहास के काल-विभाजन-सिद्धान्त पर भी विचार किया। उनकी दृष्टि से कृति, कर्त्ता और पद्धति के आधार पर किया हुआ वर्गीकरण शुद्ध और व्यापक नहीं हो सकता। साहित्य के इतिहासो में विभाजन और नामकरण का सर्वोत्कृष्ट ढंग वर्ण्य विषय की व्याप्ति के अनुसंधान से सम्बद्ध है। वर्ण्य विषय के भी दो पक्ष होते है—(१) वाह्य पक्ष और (२) आभ्यन्तर पक्ष। मिश्रजी

आभ्यन्तर पक्ष को ही काल विभाजन और नामकरण का मूलाधार मानना चाहते है। इसीलिए वे 'रीतिकाल' नाम को उपयुक्त और व्यापक न मान कर 'शृंगार काल' नाम समीचीन मानते हैं, इसी प्रकार वीरगाथा काल को 'वीर रस काल' या 'वीर काल' कहना अधिक उपयुक्त मानते है। मिश्रजी के इस 'नाम' के भीतर वे सारे कवि समाविष्ट हो जाते है जो शुक्लजी द्वारा फुटकल खाते में हाँक दिये गये थे।

मिश्रजी ने शृंगार काल की कविताओ के तीन अन्तर्विभाग किये—रीति-युक्त, रीति-सिद्ध और रीति-मुक्त। तीनो प्रवृत्तियो के कवियो की दृष्टि भाव सम्पत्ति और शिल्पगत उपलब्धि की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत कर मिश्रजी रीति-काल के अध्ययन को बहुत समृद्ध किया।

शृंगार काल की सामान्य प्रवृत्तियो के विवेचन के अतिरिक्त मिश्रजी ने उस काल के कुछ कवियो पर अलग-अलग कार्य किया है। उन कवियो की जीवनियो, उनकी धाराओ, उन धाराओं की परम्पराओ, उनके काव्यो की साहित्यिक छवियो तथा अर्थों का विश्लेषण किया है। मिश्रजी का यह कार्य उनकी समस्त आलोचनात्मक कृतियो में अधिक मौलिक और महत्त्वपूर्ण है। आचार्य शुक्ल की तरह ही मिश्रजी में अर्थ-विश्लेषण की क्षमता बड़ी सशक्त है। इस प्रकार इन्होने मुख्यतया बिहारी, भूषण, घनानन्द, केशव पर अलग-अलग पुस्तकें लिख कर बहुत बडे अभाव की पूर्त्ति की है।

पं० चन्द्रबली पाण्डेय

पाण्डेयजी आलोचक होने की अपेक्षा अधिक अच्छे अध्येता और प्राचीन सामग्रियो के अनुसंधानकर्त्ता हैं। इन्होने अपने अध्ययन का उपयोग साहित्यालोचन में उतना नहीं किया जितना कि कृतियो की ऐतिहासिक प्रामाणिकता सिद्ध करने में।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में पाण्डेयजी कभी नही उतरे। किसी कृति का मूल्यांकन करते समय वे बीच-बीच मे जिन सिद्धान्तो की चर्चा कर देते है वे सिद्धान्त पूर्व मान्य होते है। सिद्धान्तो के क्षेत्र मे आप शुक्लजी के ही विचारो के अनुयायी है। व्याख्या और मूल्यांकन के लिए जिन कवियो को आपने चुना वे सबके सब प्राचीन है और उन्हे परखने की कसौटी भी पूर्व निर्मित है। 'तुलसीदास', 'केशवदास', 'हिन्दी कवि चर्चा' आपके प्रमुख समीक्षा ग्रन्थ है। इन कृतियो की आलोचना की मौलिकता इसी बात में है कि कहीं-कहीं आलोचक ने इन कवियो या कृतियो के सम्बन्ध में

पूर्वमान्य धारणा के प्रतिकूल नयी प्रतिष्ठा की है। वह कहाँ तक सही है, यह बात अलग है।

श्री लक्ष्मी नारायण सुधांशु

सुधांशुजी ने आचार्य शुक्ल की मान्यताओ को आधार बना कर कुछ विस्तृत कार्य किये। उसी परम्परा मे उन्होने 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' तथा 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' पुस्तकें लिखीं। 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' में जीवन के विविध तत्त्वो और काव्य के सिद्धान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाया गया है। यह स्पष्ट है कि लेखक के विचारो में जितनी व्यापकता है उतनी गहराई नही। फिर भी लेखक की स्वतन्त्र चिन्तन पद्धति का आभास मिलता है। लेखक ने पूर्वी और पश्चिमी प्राचीन और आधुनिकतम ज्ञान शाखाओ और प्रवृत्तियो को अपनी व्याख्या में समेटने की कोशिश की है। इसी प्रकार सुधांशु जी ने रसवादी होने के बावजूद अभिव्यंजना के विविध सौन्दर्य की विस्तृत विवेचना की है।

द्वितीय उत्थान

(स्वच्छन्दतावादी आलोचना : सन् १९२०-१९३५)

आचार्य शुक्ल की समीक्षा के कुछ आगे-पीछे आलोचना का एक स्वरूप और विकसित हो रहा था जो छायावादी साहित्य को एक स्वतन्त्र रचना प्रक्रिया मान कर मूल्यांकन के नये सिद्धान्त स्वीकार कर रहा था। इस कोटि के आलोचक छायावाद को ऐतिहासिक विकास का स्वाभाविक परिणाम मान कर उसे नवीन दृष्टि से देखने का आग्रह कर रहे थे। वे इस भ्रांत धारणा का खंडन कर रहे थे कि छायावाद विदेशी साहित्य की अंधानुकृति है या एक शैली मात्र है।

स्वच्छन्दतावादी आलोचकों ने छायावादी साहित्य को युग और अपने समाज की नवीन चेतना की सहज परिणति माना। वह बेसिर पैर की चीज नही है, या उसका विषय केवल रहस्यवाद नहीं है, वह सन्तो की वाणी या विदेशी कवियो की वाणी का अनुकरण नहीं है, वह मात्र शैली का आन्दोलन नही है, वल्कि वह नवीन सामाजिक चेतना का परिणाम है, वह नवीन जीवन दृष्टि, नवीन जीवनानुभूति और नवीन शिल्प का आन्दोलन है। इस नवीन साहित्य का मूल्याकन पुराने मानदण्डो से नहीं हो सकता। अत: स्वच्छन्दतावादी समीक्षको ने मूल्यांकन के नये स्वरूप निर्धारित किये।

छायावादी साहित्य पर राष्ट्रीय चेतना और युगीन सामाजिक चेतना दोनो का भरपूर प्रभाव है। कुछ स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों ने वार-वार दुहराया है कि छायावादी साहित्य हमारी राष्ट्रीय चेतना की उपज है। भारत में स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए आन्दोलन छिड़ा हुआ था। उस आन्दोलन में योग देने वाली अनेक चिन्ताधाराएँ देश के मनोषियो को झकझोर रही थी। छायावादी साहित्यकार भी अपने सर्जन में इन्हीं चिन्ताधाराओ से प्रेरणा प्राप्त करता था। साथ ही साथ अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की चेतना भी उन्हें प्रभावित कर रही थी। गाँधी जी राष्ट्रीय संस्कृति की महत परम्परा और नवीन जाग्रति दोनो के मानों समन्वित रूप थे, इसीलिए वे तत्कालीन साहित्य को प्रभावित करने में इतने समर्थ हुए।

यह सत्य है कि छायावादी साहित्य में तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना और अपनी सांस्कृतिक परम्परा की छवि अंकित है किन्तु छायावादी साहित्य को समूचे विश्व में उभरती युगीन चेतना के परिप्रेक्ष्य में भी देखने की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति की आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और प्रगतिवादी आलोचकों की आलोचनाओं ने। छायावादी साहित्य इंगलिश की रोमांटिक कविता की तरह पूँजीवादी संस्कृति से विकसित व्यक्तिवादी चेतना से उद्भूत साहित्य है। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप पूँजीवादी समाज की स्थापना हुई। पूँजीवादी समाज का मूल मन्त्र है व्यक्तिगत स्वाधीनता। व्यक्तिगत स्वाधीनता की चेतना ने सामन्ती युग की रूढ़ वर्गीय चेतना को तोड़-तोड़ कर जीवन को एक खुले क्षेत्र के सामने ला खड़ा किया। वैज्ञानिक शोधों के कारण दिन-दिन औद्योगिक विकास होता गया और राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियाँ सामन्त वर्ग के हाथ से निकल कर व्यवसायी वर्ग के हाथ में आने लगी। वैज्ञानिक साधनों के आविष्कार और उपयोग से नागरिक सभ्यता बढ़ती गयी। लोग गाँवों की ओर से शहरों में कल-कारखानों में काम करने के लिए आने लगे। इस प्रकार जाति-पाँति और रूढ़ियों के बन्धन टूटते गये। उच्च कर्म उच्च जातियों के ही लिए हैं और निम्न जातियाँ केवल साधारण और हलका कार्य करने ही के लिए हैं, इन दोनों वर्गों के उच्च और निम्न गुण-धर्म ईश्वरप्रदत्त है, इस प्रकार के दावे मिथ्या सिद्ध होने लगे। मनुष्य मनुष्य है, वह स्वभावत. सदाचारी है, प्रत्येक व्यक्ति को अपने उत्थान के लिए प्रयास करने का अधिकार है। वैयक्तिक स्वाधीनता मूलतः व्यावसायिक और व्यापारिक प्रतियोगिता की भावना लेकर पैदा हुई किन्तु वह जीवन के हर क्षेत्र मे—नागरिकता में, सदाचार और नैतिकता में, साहित्य में, राजनीति में—फैल गयी। इस दृष्टि और चेतना को ले कर रोमांटिक साहित्य उठ खड़ा हुआ और वह बड़े ही उन्मेष तथा शक्ति से एक ओर जीवन और साहित्य की रूढ़ प्रवृत्तियों को तोड़ने लगा दूसरी ओर नूतन सौंदर्य-बोध, स्वच्छन्द कल्पना और लोकानुभूति को लेकर नयी सृष्टि करने लगा।

पूँजीवादी सभ्यता के प्रसार के साथ भिन्न-भिन्न देशों में यह वैयक्तिक स्वाधीनता का भाव फैलता गया। इसीलिए इंगलैंड मे रोमांटिक कविता का युग पहले आया और भारत में बाद मे। छायावादी कविता भारतीय वातावरण में विकसित होने वाली रोमांटिक कविता है, यह अनुकृति नहीं है, अपने वातावरण की उपज है। छायावादी साहित्य की विशेषताओं को आधार बना कर यहाँ के स्वच्छन्दतावादी आलोचकों ने आलोचना की कसौटी निर्मित की।

आत्मानुभूति की प्रधानता

छायावादी कवि विषय की महानता, लघुता, नैतिकता, सामाजिकता इन सभी को काव्य का मूल धर्म नही मानता। ये सब तो वाह्य उपकरण है, मूल है आत्मानुभूति। साहित्य में इसी की प्रधानता होनी चाहिए। 'वाह्य जगत् ज्योंही हमारे मन के अन्दर प्रवेश करता है, एक दूसरा ही जगत् वन जाता है। इस दूसरे जगत् में वाह्य जगत् के रंग, रूप और ध्वनि इत्यादि ही नही होते—अपितु उसमें व्यक्तिगत रुचि हमारा अच्छा-बुरा लगना, हमारा भय-विस्मय और हमारा सुख-दुःख आदि भी सम्मिलित हो जाता है। वाह्य संसार हमारी मानसिक भावनाओं के साथ मिल कर अनेक रूपो में प्रकाशित होता है।'[1]।

आधुनिक काल की भारतीय स्वच्छन्दतावादी कविता के सर्जकों में रवीन्द्र नाथ टैगोर का नाम अग्रणी है। हिन्दी छायावादी कवियो ने टैगोर का प्रभाव प्रभूत मात्रा में ग्रहण किया। अत: इस प्रसंग में टैगोर के उक्त विचार माननीय है। आत्मानुभूति की प्रधानता को स्वच्छन्दतावादी आलोचकों ने साहित्य-परीक्षा का मूलाधार बनाया। 'साहित्य का जगत से सम्बन्ध जोड देने के कारण शुक्ल जी साहित्य के नैतिक और व्यावहारिक आदर्शों की ओर इतना झुक गये कि उसके विशुद्ध मानसिक और भावमूलक स्वरूप का स्वतंत्र आकलन न हो पाया। नवीन आलोचना से ही इस कार्य का आरम्भ होता है।'[2]

साहित्य का चेत्र वह भाव और अनुभूति जगत है जो मानव मात्र की सहज सम्पत्ति है। समीक्षक को यही देखना चाहिए कि अमुक कृति में अनुभूतियो और भावो का प्रकाशन कहाँ तक हुआ है और वह आनन्द-सृष्टि में कहाँ तक समर्थ है।

इस संदर्भ में दूसरा प्रश्न यह उठा कि क्या विषय की महत्ता या लघुता के अनुसार अनुभूतियाँ छोटी-बड़ी होती है और अनुभूतियो की महत्ता और लघुता के अनुसार कृति छोटी-बड़ी होती है? स्वच्छन्दतावादी आलोचकों में एक प्रमुख आलोचक श्री नंद दुलारे वाजपेयी ने कहीं यह प्रश्न उठाया है। उनका कहना है कि अनुभृति छोटी-बड़ी नहीं हो सकती। अनुभृति अनुभूति होती है। यदि वह सचाई से अनुभव की गयी है और सचाई से व्यक्त की

---

१. साहित्य—रवीन्द्र नाथ टैगोर।

२. आधुनिक साहित्य—नंद दुलारे वाजपेयी।

गयी है तो उत्तम कोटि के साहित्य की सृष्टि हो सकती है। अनुभूति चाहे एक व्यक्ति की हो, चाहे समाज की, चाहे एक वर्ग की हो, चाहे अनेक वर्गों की, उसे अनुभूति होना चाहिए। वही साहित्य का प्रेरक तत्त्व है। इस प्रकार पूँजीवादी सभ्यता की वैयक्तिक चेतना का सहज परिणाम साहित्य में यह हुआ कि रचना के मूल तत्त्व के रूप मे कवि की आत्मानुभूति को स्वीकारा गया। रीतिकाल से ले कर द्विवेदी काल तक भिन्न-भिन्न कारणो से और भिन्न रूपों में कवि की आत्मानुभूति की उपेक्षा होती आयी थी किन्तु अनुकूल सामाजिक परिवेश और युगीन वातावरण पा कर आत्मानुभूति का तत्त्व साहित्य में प्रधान हो उठा। वाह्याकार की महत्ता गौण हो गयी। 'साहित्य आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति ही आनन्द है—पहले स्वयं लेखक के लिए फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिए। और रस जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व है।'[1]

पहले यह स्वीकार किया गया था कि बडे काव्य के लिए बडा विषय चुना जाय किन्तु इस नवीन साहित्य ने विषय की महानता और लघुता का बन्धन तोड़ दिया। जीवन-जगत के सामान्य से सामान्य और छोटे से छोटे पदार्थ और क्षण कविता के विषय बन सकते है। उन विषयो में स्वतः कोई महान् या लघु साहित्य रचने की क्षमता-अक्षमता नहीं होती। क्षमता तो होती है साहित्यकार मे जो अपनी संवेदना और अनुभूति के स्पर्श से वाह्य विषयों अतएव कविता को स्पंदित कर देता है। साहित्य में आत्मानुभूति को मुख्य तत्त्व मान लेने का फल यह हुआ कि गीतो का उचित मूल्यांकन हुआ। प्रबन्ध-काव्य अपनी विषयगत विराटता और विविधता के कारण पहले के नैतिकता-वादी आलोचको द्वारा सराहे गये थे और गीतकाव्य अपनी भाव-सम्पत्ति के बावजूद ऊँचा स्थान नहीं पा सके थे किन्तु समीक्षा का मानदण्ड बदलने से गीतों की महत्ता स्थापित हुई। 'जहाँ एक ओर नये समीक्षकों ने विशुद्ध प्रेम गीतो को प्रबन्ध मूलक रचनाओ और उनमें प्रदर्शित नीतिवाद से पृथक् और उच्चतर स्थान देने की चेष्टा की वहीं भक्ति के नाम पर रचित भावरहित शुष्क अति शृंगारी काव्य को भी उन्होंने अलग कर दिया है।'[2] इस प्रकार इन आलोचकों ने नये या पुराने साहित्य में जहाँ कहीं निविड़ आवेग से अनुभूतियों को व्यक्त करने वाले गीत देखे वहाँ उनकी सराहना की। स्वच्छन्दता-वादी समीक्षक भावों के अविरल प्रवाह व्यक्त करने वाली कविता को श्रेष्ठ

१. विचार और अनुभूति—डा० नगेन्द्र।

२. आधुनिक साहित्य—नन्द दुलारे वाजपेयी।

कविता मान कर काव्य में रसात्मकता के पक्षपाती हुए किन्तु यह स्पष्ट है कि उनकी रसज्ञता और भावधारा परिपाटी विहित रसज्ञता से भिन्न स्वच्छन्द और नयी थी।

कल्पना की अतिशयता

छायावादी काव्य में अनुभूति के आवेग के साथ कल्पना की धारा भी दर्शनीय है। 'छायावादी काव्य में अनुभूति और नैसर्गिक भावावेग का प्रवाह मुख्य वस्तु है किन्तु यह भावावेग कल्पना के अविरल प्रवाह से संवलित है।'[1]

कल्पना का उपयोग अनुभूत और देखी गयी वस्तुओ के पुनस् जन, वस्तुओ के सृजन और अभिव्यक्ति में होता है। छायावाद काव्य में कल्पना का उपयोग तीनों प्रकार से हुआ है। छायावाद के पहले के द्विवेदी-कालीन काव्य में कल्पना के उपयोग की कमी होने से वस्तुओं का यथातथ्य निरूपण प्राप्त होता है। इसीलिए तत्कालीन समीक्षकों ने प्रत्यक्ष दृश्य-विधान को ही सराहा। किन्तु छायावादी कवियो ने अपनी कल्पना की आँखो से उन प्रत्यक्ष दृश्यों के भीतर निहित उनकी आन्तरिक छवियो, संवेदनाओं और भावात्मक आवेगों को देखा। पदार्थों का रूप निरूपण करने के साथ ही साथ उनकी अन्तर्चेतना को उद्घाटित करना छायावादी कविता का प्रयास रहा।

छायावादी कविता की कल्पना कहीं-कहीं प्रत्यक्ष संसार से परे हट कर एक अलग संसार की रचना में संलग्न दिखाई पडती है, वहाँ वस्तुओं का पुनस् जन नहीं वलिक उनका सृजन दिखाई पड़ता है। ऐसे अवसरों पर कल्पना की अतिशयता निराधार हो जाने के नाते अपने वास्तविक लक्ष्य से चूक जाती है।

अभिव्यक्ति पक्ष में भी छायावादी कविता ने कल्पना की सूक्ष्मतम शक्तियों का प्रयोग किया। अप्रस्तुत विधान छायावादी कविता की मुख्य विशेषता है। अभिव्यक्ति की पिटी-पिटाई पद्धति को छोड़ कर छायावादी कविता ने नवीन प्रतीक, नवीन उपमान, सूक्ष्म इन्द्रिय बोध सूचक शब्दों और भाषा की लक्षणा व्यंजना शक्तियो का भरपूर प्रयोग किया। इसीलिए स्वच्छन्दतावादी आलोचको ने भी 'कल्पना' को बडा महत्त्व दिया। पश्चिम के 'शेली' जैसे कवियो की दृष्टि में 'कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है।'

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

सौन्दर्य-दृष्टि

छायावादी कविता सौन्दर्य को मूलत भीतर से देखती है। वह मानव और प्रकृति का सौन्दर्य ऊपर-ऊपर से देख कर संतोष नही कर लेती बल्कि वह उनकी धडकनो को, उनकी भावात्मक और रागात्मक सत्ताओ की संश्लिष्टता को देखती है। प्रकृति केवल वाह्य दृश्य मात्र नही है उसमें भी मानव की भाँति संवेदना ओर चेतना लहरे मार रही है। मानव अपने पाप-पुण्य अपने भाव-अभाव की संश्लिष्टता में सुन्दर है। इसीलिए देवासुर संग्राम की सत्ता प्रत्येक जन-मानस में है।

सौन्दर्य को आन्तरिक चेतना में देखने का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य या वस्तुओ की वाहरी सुन्दरता के प्रति जो स्थूल दृष्टिकोण वना था वह टूट गया। विषय अपने आप में कैसा है यह महत्त्व की वस्तु नहीं रही बल्कि वह देखने वाले की आँख मे कैसो दीखता है यह वात महत्त्वपूर्ण हो गयी। इसीलिए अभिनव चेतना सम्पन्न व्यक्तित्व की गरिमा से दीप्त छायावादी कवियों ने जीवन और साहित्य में वनी-वनायी सौन्दर्य की लीकों को तोड़ दिया। विषय पक्ष में भी, अभिव्यक्ति पक्ष में भी। नारी अव भोग्या नही रही, वह देवि माँ सहचरि प्राण हो गयी। उसकी आन्तरिक गरिमा की ओर कवियो का ध्यान गया। प्रकृति स्थूल दृश्य नही रही, वह अन्तर छवि से दीप्त व्यक्तित्व पा सकी।

स्वच्छन्दतावादी आलोचना की सौन्दर्य-दृष्टि छायावादी कविता के इन्ही तत्त्वो से निर्मित हुई। आलोचना ने काव्य सौन्दर्य की खोज वंधे वँधाये विषयों, वाह्य रूप से शोभा मंडित उपकरणो, नारी अंगो की मांसलता और उत्तेजकता, उसके वाह्य क्रिया-कलापो, अभिव्यक्ति के वँधे-सजे आयोजनो में नही की, वल्कि मानस-सगठन, मानवता के नवीन मूल्यो, हृदय की संश्लिष्ट भाव-छवियो और अभिव्यक्ति के नवीन साधनो मे की। इसीलिए जो छायावादी कविता पहले के कवियो को ऊल-जलूल, व्यर्थ और असुन्दर दीख रही थी वही स्वच्छन्दतावादी कवियों को सुन्दर और आधुनिक चेतना के संदर्भ में सार्थक दीखने लगी।

साहित्य का उद्देश्य

पूर्व छायावाद साहित्य में रसात्मकता के माध्यम से लोक-हित की प्रतिष्ठा का प्रश्न वडे सवल रूप में उठ खड़ा हुआ था। महान् आदर्शों, महान् पात्रों को चित्रित करने वाले काव्य महान् होते है, वे मनुष्य की सद्वृत्तियो को

जगा कर मनुष्य को लोक-हित में सलग्न करते है। छायावाद के कवियो और आलोचको ने आनन्द को ही साहित्य सृष्टि का उद्देश्य माना। उपयोगितावाद बहुत ही स्थूल मानदण्ड है। रोमाटिक कवि कालरिज ने स्पष्ट कहा—'सौन्दर्य के माध्यम से सद्यः आनन्दोद्रेक के लिए भावो को जाग्रत करना' काव्य का उद्देश्य है। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने भी साहित्य का मूल उद्देश्य आनन्द की अभिव्यक्ति ही माना। किन्तु उन्होने आनन्द की ऐसी उदात्त व्याख्या की कि वह स्वतः ही सत्य और शिव से सम्पृक्त हो गया।

स्वच्छन्दतावादी आलोचकों की दृष्टि में राजनीति, अर्थनीति, धर्म, समाजनीति इत्यादि साहित्य को प्रभावित करने वाले तत्व है उसके विधायक तत्त्व नहीं। साहित्य न तो राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक चेतनाओं को चित्रित करना चाहता है और न ऐसा कोई प्रभाव पाठको के चित्त में उतारना चाहता है। उसका सम्बन्ध केवल अनुभूतिजन्य सहज आनन्द से होता है। अपनी यही दृष्टि लेकर स्वच्छन्दतावादी आलोचक इतिहास की ओर भी गये और उन्होने शुद्ध भाववादी कवियो को अन्य कवियो से श्रेष्ठ माना।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षको ने सिद्धान्त रूप से भले ही आनन्द को साहित्य का उद्देश्य स्वीकार कर सामाजिक, राजनीतिक आदि तत्त्वों की उपेक्षा की हो किन्तु जाने या अनजाने वे बार-बार साहित्य में राष्ट्रीय चेतना, मानवतावादी दृष्टिकोण, सामाजिक संवेदना इत्यादि से छायावादी काव्य को संपृक्त करते दिखाई पडते है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तो निश्चित ही इन भाववादी कविताओं को लोकमंगल के धरातल पर प्रतिष्ठित करना चाहते है। उनका कहना यही है कि साहित्य वह है जो अनुभूतियो के माध्यम से मनुष्य को ऊँचे उठाता है, उसकी पाशववृत्तियों को धीरे-धीरे मिटा कर उसे देवत्व की ओर ले जाता है। 'कालरिज' ने स्रष्टा की अनुभूतियों को लोक की अनुभूतियो से जोड कर साहित्य को सामाजिक विस्तार दिया। हिन्दी स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों ने छायावादी कविता की भावभूमि का सम्बन्ध राष्ट्रीय चेतना, गाँधीवादी विचारधारा आदि से जोडा। आनन्द को साहित्य का उद्देश्य मानने वाले श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी आगे चल कर राष्ट्रीय और सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति साहित्यकारो को सावधान किया। 'हमारा राष्ट्र विकासोन्मुख स्थिति में है; साहित्य भी उसी के अनुरूप है। इसीलिए हमारी समीक्षा भी उसी के अनुरूप सामाजिक विकास की सहकारिणी और उसे प्रेरणा देने वाली होनी चाहिए

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा ने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। छायावाद के पूर्व के आलोचको ने विशेषतया कविताओ को ही समीक्षा का विषय बनाया था और कविताओं के ही आधार पर अपना साहित्यिक दृष्टिकोण निर्मित किया था किन्तु स्वच्छन्दतावादी समीक्षको ने विभिन्न साहित्यिक विधाओ के प्रश्नो को समझने की कोशिश की और उनके व्यावहारिक रूपो का मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया।

श्री नन्द दुलारे वाजपेयी

हिन्दी मे स्वच्छन्दतावादी समीक्षा की स्थापनाएँ करने वाले समीक्षको में वाजपेयीजी का नाम बड़े महत्त्व का है। जिस प्रकार आचार्य शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि तुलसी-साहित्य के अध्ययन से निर्मित जान पड़ती है उसी प्रकार वाजपेयीजी की समीक्षा-दृष्टि छायावादी काव्य के अध्ययन से बनी हुई ज्ञात होती है। पहले-पहल वाजपेयीजी ने बडे दृढ़ स्वर में आचार्य शुक्ल के मतो का खण्डन करते हुए यह स्थापित किया कि (१) छायावादी काव्य पश्चिम या बँगला के काव्य का अनुकरण न होकर रीतिबद्ध और द्विवेदी-कालीन कविता की स्वाभाविक प्रतिक्रिया था जिसमें राष्ट्रीय चेतना मुखर थी और पश्चिम की तथा बँगला कविताओ का प्रभाव भी था। (२) छायावाद शैली मात्र नहीं है। उसका अपना जीवन-दर्शन भी है और उसकी अपनी भाव-संपत्ति भी है। वाजपेयीजी ने भक्ति-काल, रीति-काल और द्विवेदी-कालीन कविता की सीमाओ के परिवेश में छायावादी काव्य की उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन कर छायावाद की महत्ता स्थापित की। इस प्रकार एक ओर वाजपेयीजी ने छायावाद की पृष्ठभूमि का गहन विश्लेषण किया, दूसरी ओर उसके आधार पर छायावादी काव्य की नवीन उद्भावनाओं का मूल्यांकन करने के लिए नये मानदण्ड तैयार किये।

छायावाद की कविताओ का विचार करते हुए वाजपेयीजी ने एक भ्रान्त धारणा का खण्डन किया कि शैली और अनुभूति अलग-अलग दो वस्तुएँ है। जहाँ शैली और अनुभूति में पार्थक्य होता है और शैली प्रधान हो जाती है वहाँ रीतिवादी रूढ काव्य का निर्माण होने लगता है और जहाँ शैली की उपेक्षा होने लगती है वहाँ रूखापन आने लगता है। छायावाद मे अनुभूति, दर्शन और शैली तीनो का संयुक्त रूप मिलता है। छायावाद में अनुभूति और शैली दोनो को अलग न मान कर शैली को अनुभूति की अनुगामिनी माना गया। अर्थात अनुभूति के स्वभाव के अनुसार शैली का स्वरूप-निर्माण होता चलता है।

वाजपेयीजी किसी कृति को उसमें व्यक्त कवि की अन्तर्वृत्तियों की कसौटी पर परखना चाहते है। इस प्रवृत्ति से एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि शुक्लजी को नैतिकतायुक्त रसवादी परम्परा में जो कविनाएँ नही अँट पाती थी, वे साहित्य में अपना उचित स्थान पाने लगीं।

वाजपेयीजी के अनुसार समीक्षा में उनकी चेष्टाएँ निम्नलिखित है। क्रम से ऊपर से नीचे की ओर प्रमुखता कम होती गयी है—

(१) रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियो (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन (एनालसिस ऑफ पोयटिक स्पिरिट)।

(२) रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन (एस्थेटिक एप्रीसियेशन)।

(३) रीतियरे, शैलियो और रचना के वाह्यांगो का अध्ययन (स्टडी ऑफ टेकनिक)।

(४) समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओ का अध्ययन।

(५) कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अयध्यन (मानस विश्लेषण)।

(६) कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन।

(७) काव्य के जीवन सम्वन्धी सामंजस्य और सन्देश का अध्ययन।

वाजपेयीजी अपनी उपर्युक्त कसौटी का सर्वत्र ध्यान रख सके है, ऐसा नहीं लगता। शुक्लजी की तरह ये अपनी स्थापनाओ में वहुत स्पष्ट और दृढ नहीं हैं। अतः इनमें विचारो की असंगतियाँ भी वहुत दीखती है। यह भी कहा जा सकता है कि वाजपेयीजी की चिन्तन धारा का विकास होने से जिस चीज को वे पहले कम महत्त्व का समझते रहे वाद में उसे अधिक महत्त्व का समझने लगे। जो भी हो असंगतियाँ है—जैसे कि वे छायावाद के मूल्यांकन में उसके दार्शनिक और राष्ट्रीय पक्ष को वड़े समारोह के साथ उद्घाटित करते है। अपनो उपर्युक्त मान्यता में इसे काफी पीछे स्थान दे कर भी व्यवहार में उसे वहुत महत्त्वपूर्ण मानते हुए दिखाई पडते है। जहाँ ये छायावादी काव्य के दर्शन की समारोहपूर्ण व्याख्या करते है वही वाद के काव्यो में व्यक्त भौतिकवादी दर्शन के प्रति उपेक्षा का-सा भाव वरतते हैं। छायावादी दर्शन की व्याख्या करते समय वाजपेयीजी ने दर्शन को देश-काल के अनुरूप परिवर्तनशील माना है किन्तु पता नहीं क्यों वे अपने इस सिद्धान्त का उपयोग प्रगतिशील साहित्य या प्रयोगवादी साहित्य के दर्शन के विश्लेषण में नहीं कर पाते।

इसी प्रकार वे नयी कविता के भाव या अनुभूति की सच्ची अभिव्यक्ति की ओर न ध्यान देकर उसकी नैतिक-अनैतिक दृष्टि से व्याख्या करने लगे है, जिस अनुभूति की सचाई की बात उन्होने उठायी थी स्वयं उसी का विरोध कर अन्य प्रकार की बाहरी चेष्टाओं को प्रधान मान बैठे है। लगता है वाजपेयीजी छायावादी काव्य-संस्कार से इतने अभिभूत हैं कि वे परवर्ती साहित्य की नवीन उपलब्धियो को तटस्थ व्याख्या नहीं दे पा रहे है।

वाजपेयीजी ने नये और पुराने सभी प्रकार के कवियो और लेखको की उपलब्धियो का मूल्याकन किया, फिर भी इनकी प्रतिभा और रुचि नये साहित्य के अध्ययन और चिन्तन में ही अधिक व्यस्त रही। इनकी व्यावहारिक आलोचनाओ के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम कह सकते है कि इन्होंने कवियो की मूल वृत्तियो को पहचान कर अनुभूतियो के आधार पर उनकी व्याख्याएँ की है। व्यावहारिक समीक्षाओ में आपने समय और समाज, कवि की प्रकृति आदि सभी के प्रभावो का विश्लेषण किया है। सिद्धान्त निरूपण के क्षेत्र में इनमे जो वैचारिक असंगतियाँ दीखती है, वे व्यावहारिक आलोचनाओं मे नही। कहा जा सकता है कि व्याख्यात्मक आलोचना का बहुत कुछ शुद्ध रूप इनकी व्यावहारिक आलोचनाओ में मिलता है। जिन कवियो पर वाजपेयी जी ने विचार किया है उनमें से अधिकांश पर शुक्लजी विस्तार से विचार कर चुके थे किन्तु शुक्लजी अपनी मार्मिक पकड और सुस्पष्ट व्याख्या के बावजूद अपने कुछ नैतिक या साहित्यिक पूर्वग्रहो के कारण रचनाओ के मूल उद्गम स्रोतो तक नहीं जा सके। इसलिए उन्हे वे पश्चिम की नकल मान बैठे। वाजपेयीजी ने इन कविताओ को अपने समय और देश के आन्दोलनो से सम्बद्ध करके देखा। उनमें व्यक्त रहस्यवादिता की व्याख्या की। इन कविताओ में व्यक्त कला के, सौन्दय-बोध के, अनुभूतियो के, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतनाओ के नवीन स्वरूपो का उद्घाटन किया। हाँ, नवीनतम साहित्य को वे निश्चय ही न्याय नही दे पा रहे है।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदीजी साहित्य में मानवतावाद की प्रतिष्ठा लेकर आये। स्वच्छन्दतावादी समीक्षक होकर भी इन्होंने अनुभूति की अभिव्यक्ति को ही साहित्य का लक्ष्य नही माना वरन् उसका सम्बन्ध सामाजिक मगल से जोड़ा। सामाजिक मंगल की बात आचार्य शुक्ल ने भी उठाई थी किन्तु आचार्य द्विवेदी का लोक मंगल आचाय शुक्ल के लोक मंगल से तत्त्वतः भिन्न

है। द्विवेदीजी का लोक धर्म—जिसे मानवतावाद कहा जाय तो बात अधिक स्पष्ट होगी—शुक्लजी के लोक धर्म की तरह देश और काल की सीमा से आवद्ध नहीं है वह सार्वभौम है, युग के नवीन आविष्कारों से उद्भूत सामाजिक आवश्यकताओ और सम्बन्धों के साथ-साथ परिवर्तनशील है। इनका मानवतावाद समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर आधारित है, वह रूढ और स्थूल नहीं है। मानव का उत्थान, उसकी वृत्तियो का उदात्तीकरण अनेक ढग से हो सकता है, साहित्य के वे सभी ढंग, स्वरूप अध्ययन के विषय हैं। इस प्रकार ये अनुभूतियो की अभिव्यक्ति को अपने-आप में साध्य न मान कर मानवता के विकास का साधन मानते है। अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का चरम उद्देश्य है मानव को पाशववृत्तियो से मुक्त कर उसे उदात्त गुणों से भूषित करना। मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है सो भी सामाजिक मनुष्य। द्विवेदीजी का यह सामाजिक मंगलवाद मात्र आदर्शात्मक नहीं है। वे अत्यन्त वैज्ञानिक रूप से यह सिद्ध करते है कि सामाजिक अनुभूतियो और ज्ञान को अभिव्यक्ति देना ही साहित्य की मूल प्रकृति है।

यह सत्य है कि साहित्य व्यष्टि के माध्यम से ही फूटता है किन्तु द्विवेदीजी इस सर्जक व्यष्टि को समष्टि से विच्छिन्न करके देखने के पक्षपाती नही है। उनका मानना है कि बडी-बडी प्रतिभाएँ व्यक्ति में उत्पन्न होती है किन्तु उन व्यक्तियो को पैदा करने वाली सामूहिक प्रगति होती है। इस प्रकार प्रतिमा पूर्व जन्म की संचित वस्तु नहीं है वरन् वह सामाजिक प्रगति से प्राप्त होने वाली शक्ति है। उनका कहना है कि भूत-प्रेत और ग्रह नक्षत्रो के अंध संस्कार में पली ज्राति में आइन्स्टीन नहीं पैदा हो सकते। समाज की सामूहिक पहुँच को ही व्यक्तिविशेष की प्रतिभा सूचित करती है। इस प्रकार द्विवेदीजी साहित्य को या अन्य सूक्ष्म कलाओ को स्थूल जगत् और आस-पास के वातावरण से अत्यन्त प्रभावित मानते है।

बड़ी ही वैज्ञानिक व्याख्याओं के आधार पर लेखक ने सिद्ध किया है कि वाह्य सत्ता से असपृक्त काव्य उच्चकोटि का काव्य नहीं हो सकता, किन्तु ऐसी कविताएँ भी मृदु कम्पन की वजह से एक श्रेणी के पाठको को आनन्द देती है अत. ये सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है।

द्विवेदीजी में सबसे बड़ी शक्ति है सामंजस्य या संतुलन की। वे तमाम विरोधी सी दिखाई पड़ने वाली वस्तुओ की शक्तियो को लेकर उन्हे व्यापक वैज्ञानिक भूमि पर एक मे अनुस्यूत करते है। उनका यह कार्य जोड-बटोर का कार्य नहीं होता। उन्होने नैतिकता और सामाजिक यथार्थ पर विचार करते हुए सिद्ध किया है कि अधिक व्यापक धरातल पर ये

दोनो चीजें अविरोधी है। यथार्थ का अर्थ नंगी स्वार्थी वृत्तियो, कमजोर क्लीव मनुष्यो की फोटोग्राफो नहीं है, वह तो मानव-समाज के व्यापक संघर्षों, आशाप्रद हार-जीतो, विश्वासप्रद कमजोरियों और शक्तियो का चित्रांकन है। यह सामाजिक यथार्थ निश्चय ही नैतिकता का पोषक है। कहा जा सकता है कि द्विवेदीजी की आलोचना-दृष्टि समाजशास्त्रीय है क्योकि उन्होने कुछ अन्य आलोचको के प्रतिकूल साहित्य को नवीन ज्ञान-विज्ञान की नाना प्रगतियों से प्रभावित माना है।

द्विवेदीजी की सामंजस्यवादी दृष्टि सौन्दर्य में सन्तुलन को ही विशेष महत्त्व देती है। जहाँ भी सामंजस्य है वही सुन्दरता है। मानव जीवन या साहित्य या कला—सर्वत्र सामंजस्य ही सौन्दर्य का निर्माण करता है अत. एकाकी दृष्टि—समाज के व्यापक यथार्थ से विच्छिन्न साहित्य या किसी विशेष प्रकार की कृति को या आलोचना को अपने-आप में सर्वोत्तम मान लेने वाली समीक्षा-दृष्टि सुन्दर नही है। बाहर और भीतर का अलगाव छोटे और बडे की भावना का विराट अस्तित्व, गरीब और धनी के बीच का व्यापक अन्तर किसी समाज को सुन्दर नही बना सकते भले ही वह समाज धर्म अध्यात्म की हवाई कल्पना कर उसकी ऐकांतिक उपासना में लीन रहे। मिट्टी की उपेक्षा कर स्वर्गीय सौन्दर्य के निर्माण की बात सोचना उपहासास्पद है।

समीक्षा के क्षेत्र में द्विवेदीजी इसी सामंजस्य विधायिनी दृष्टि के नाते शास्त्रीय, व्याख्यात्मक और प्रभाववादी सभी प्रकार की आलोचनाओ की छवियो को स्वीकारते है। सबका अपना-अपना रस है, अपना-अपना सौन्दर्य है।

परंपरा और प्रगति पर विचार करते हुए द्विवेदीजी प्रगति को मानव समाज की अनिवार्य शक्ति मानते है। मनुष्य इच्छाशील प्राणी है। वह शुरू से ही जड से संघर्ष करता हुआ ऊपर उठने की कोशिश कर रहा है। अतएव प्रगति तो मनुष्य की जीवंत शक्तियो का परिचायक है। निरन्तर प्रगति के कारण लोकरुचि बदलती रहती है। साहित्य को इन बदली हुई लोक-रुचियो को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करते रहना चाहिये।

किन्तु प्रगति कही ऊपर से बरसी नहीं है वरन् वह चेष्टाशील मानव के क्रमिक विकास की अगली कडी है, परम्परा का अगला कदम है अत. परम्परा को समझे बिना प्रगति को नहीं समझा जा सकता। परम्परा की पिछली कड़ियाँ वर्तमान और भविष्य के स्वरूप को समझने में सहायक होती है। किन्तु परम्परा भी मानव-विकास या उत्थान का साधक है। जीवंत परम्परा

को ही स्वीकार करना अपेक्षित है। मरे हुए इतिहास के फालतू बोझ को ढोना जिन्दा आदमी की निशानी नहीं है। इतिहास वर्त्तमान और भविष्य के निर्माण में जहाँ तक सहायक है वही तक ग्राह्य है।

साहित्य को व्यापक समाज से सम्बद्ध करके देखने का ही यह परिणाम हुआ कि उन्होने साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते समय विभिन्न कालो की साहित्यिक प्रवृत्तियो की व्याख्या केवल स्थूल राजनीतिक घटनाओ के आधार पर नहीं, वरन् सांस्कृतिक परम्पराओ, उपासना के मूल स्रोतों, धार्मिक चिन्तनो, तत्कालीन सामान्य जनता की अवस्थाओ, उनकी प्रवृत्तियो, विश्वासों आदि के व्यापक आधार पर की। इसीलिए आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित सत्यो के विपरीत सत्यो की स्थापना द्विवेदीजी ने की। आदिकाल भक्तिकाल और रीतिकाल के अनेक नये सत्य उद्घाटित हुए।

द्विवेदीजी के आलोचक का व्यक्तित्व कई सबल तत्त्वो से निर्मित है। वे प्राचीन साहित्य के निष्णात पण्डित है, वर्त्तमान की चेतना उनमें जागरूक है अत: प्राचीन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने की उनमें अद्भुत शक्ति है, वे उच्च कोटि के सहृदय है, उनमें पाण्डित्य और रस-ग्राहकता का अद्भुत समन्वय है। सामजस्यवाद के समर्थक होने के नाते वे किसी चीज के प्रति पूर्वग्रह बद्ध नहीं हो पाते। उनके व्यक्तित्व के ये सारे गुण उनकी व्यावहारिक आलोचनाओ में प्रतिफलित होते हुए दिखाई पड़ते है। कबीर और सूर पर लिखी गयी उनकी आलोचनाएँ इस बात की प्रमाण है। इन दोनो कवियो को परखने की नयी दृष्टि द्विवेदीजी ने दी।

पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी

श्री शान्तिप्रिय प्रभाववादी समीक्षक के रूप में विख्यात है। प्रभाववादी समीक्षा अच्छी निगाह से नहीं देखी जाती। आचार्य शुक्ल उसे कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु नहीं मानते। ज्ञान और भाव दोनो क्षेत्रो में इसका कोई मूल्य नहीं।

अत: किसी आलोचक को प्रभाववादी समीक्षक कहना उसे थोडी-सी हेय दृष्टि से देखना है। जो भी हो, यह सत्य है कि छायावादी कविता के प्रभाव से प्रभाववादी आलोचना के विकास की गुंजाइश थी और परिणाम-स्वरूप कुछ अत्यन्त भावुक लोगो मे आलोचना का यह रूप विकसित हुआ। छायावादी काव्य का मूल आधार व्यक्तिवादी अनुभूति है। नयी अवस्था में यह अनुभूति ताजी और सामाजिक चेतना से सम्बद्ध दिखाई पडती है बाद

में वह अति वैयक्तिक होती गयी। सामाजिक संदर्भों और वस्तुस्थितियों से सम्पर्क टूट जाने पर चेतना या अनुभूति अति व्यक्तिवाद के घेरे में वन्द हो जाती है और यथार्थ से सम्बन्ध टूट जाने के कारण गलदश्रु भावुकता का जन्म होता है। छायावादी भावुकता यथार्थ विच्छिन्न लोगों के भीतर गलदश्रु भावुकता वन बैठी। ऐसे ही लोग छायावाद के श्रेष्ठ कवियो की नकल पर झूठी कल्पनाओं और नकली अनुभूतियों के आधार पर लफ्फाजी करने लगे। यह भावुकता का अतिरेक रचनात्मक साहित्य में तो आया ही आलोचनात्मक साहित्य में भी आया। ऐसे आलोचक साहित्य के मूल मर्म और उसे प्रभावित करने वाले सामाजिक संदर्भों की व्याख्या न करके मूल कविताओं के समानान्तर छायावादी पदावली में प्रशंसात्मक कविताएँ कर चलते थे। स्मरण रहे कि द्विवेदी काल में भी पद्म सिंह शर्मा आदि की आलोचनाओं में प्रभाववादी समीक्षा की बाढ आयी थी। वहाँ भी कारण तत्कालीन यथार्थ और काव्य के मूल मर्म तक पहुँच पाने की असमर्थता ही थी।

छायावादी काल में प्रभाववादी ढंग की आलोचनाओं के दो स्वरूप लक्षित होते है—(१) आलोचक अपने ऊपर पड़े हुए आलोच्य कृतियो के सौन्दर्य के प्रभाव का उदगार भावुकता के साथ अलकृत शैली में करने लगे। (२) आलोचक का उद्देश्य किसी सिद्धान्त या रचना का स्वरूप-विश्लेषण ही रहे किन्तु शैली प्रभाववादी हो अर्थात वह विषय का प्रतिपादन भावुकता और अलंकरण के साथ करता रहे। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के अधिकांश निवन्ध डा० भगवतशरण उपाध्याय द्वारा की गयी 'नूरजहाँ' की समीक्षा प्रथम कोटि में आते हैं और पंत, महादेवी, डा० राम कुमार वर्मा तथा डा० नगेन्द्र के कुछ निवन्ध दूसरी कोटि में आते है।

यों श्री शान्तिप्रियजी की आलोचनाएँ प्रभाववादी आलोचना के हलके अर्थ में ली जाती है किन्तु विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि शान्तिप्रियजी की कुछ आलोचनाएँ व्याख्या श्रेणी की है। इन व्याख्या श्रेणी की आलोचनाओं में काव्य का पुट अवश्य है किन्तु वह आलोचना को गलदश्रु भावुकता में न डुबो कर अपेक्षित मात्रा में सरस कर देता है। इनकी शुद्ध प्रभाववादी आलोचनाएँ भी विचारो से शून्य नहीं है (जैसा शुक्लजी ने कहा है) हाँ, यह अवश्य है कि उनमें काव्यात्मकता का इतना अतिरेक हो गया है कि उन्हें निचोड़ने पर विचारों की उपलब्धि वहुत थोडी हो पाती है।

ऐसा लगता है कि शान्तिप्रियजी की प्रभाववादी समीक्षाओ की काव्यात्मक तरलता उनकी वैचारिक शक्ति के अभाव की नहीं उनकी रुचि की

परिचायक है। वे वस्तु सत्य की अपेक्षा भाव सत्य पर अधिक बल देते है। इसीलिए व्याख्यात्मक समीक्षाओ में भी प्रभाववादी समीक्षा की तरलता तैरती रहती है। इनकी व्याख्यात्मक समीक्षाएँ भी अन्य आलोचको की व्याख्यात्मक समीक्षाओ से कुछ भिन्न ठहरती है। व्याख्यात्मक आलोचना मे सानुक्रम सागोपाग विवेचन अपेक्षित होता है किन्तु शान्तिप्रियजी की विचार-प्रधान समीक्षाओ मे क्रमबद्धता के स्थान पर उडती हुई स्वच्छंदता दिखाई पडती है। ये आलोचनाओ में भी सूत्रात्मक सूक्तियो से काम लेते है। इस प्रकार व्याख्या करने वाली पंक्तियाँ स्वय व्याख्येय हो जाती है। किन्तु 'शुक्लजी का कृतित्व', 'प्रगतिवादी दृष्टिकोण', 'छायावादी दृष्टिकोण', 'इतिहास के आलोक में' आदि निबन्धो में शान्तिप्रियजी की सूझ-बूझ, पाण्डित्य और वस्तुनिष्ठता का पता चलता है।

जहाँ तक शान्तिप्रियजी के दृष्टिकोण का प्रश्न है कह जा सकता है कि वे साहित्य में छायावादी है और जीवन मे गाँधीवादी है। ऐसे वे दोनो में भेद मानते भी नहीं। इनकी दृष्टि से छायावाद गाँधीवाद का ही साहित्यिक संस्करण है। फिर भी शान्तिप्रियजी ने छायावाद की सीमाओ और प्रगतिवाद की उपलब्धियो का मुक्त हृदय से विचार किया है। छायावाद के प्रमुख समर्थकों में से होने के नाते द्विवेदीजी ने छायावाद को स्थापित करने मे बडी शक्ति पहुँचायी। छायावाद की व्याख्या करते समय उन्होने उसे देशी कविता की भावधारा का ही विकास माना और उसे प्रभावित करने वाले भिन्न-भिन्न तत्त्वों का विश्लेषण किया। 'ज्योति विहग', 'प्रतिष्ठान', 'युग और साहित्य', 'सामयिकी' शान्तिप्रियजी की प्रमुख समीक्षा-कृतियाँ है।

कवि समीक्षक

इस द्वितीय उत्थान के प्राय. सारे श्रेष्ठ कवियों ने आलोचना के क्षेत्र में भी कलम चलायी। वस्तुत. आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित होने का इन्हे शौक नही था वरन् इन्हें तो अपनी नवीन चेष्टाओं को स्पष्ट करने के लिए इस क्षेत्र में आना पड़ा। आलोचना का मूल धर्म है नवसर्जन को विकसित होने में योग देना। आलोचक के चाहे या अनचाहे नये युग का स्रष्टा नवीन चेतनाओ के तत्त्वो को लेकर नव सर्जन करता ही रहता है। किन्तु कुछ ऐसी विगड़ी हुई परम्परा बन गयी है कि आलोचना इस सर्जन के विकास में सहायक न होकर बाधक बन जाती है। वह रूढ़िबद्ध दृष्टि से नवलेखन की परीक्षा कर उसे सदोष सिद्ध करती है, उसकी प्रगति को अवरुद्ध करती है।

ऐसे अवसर पर स्वयं लेखकों को आगे आना पड़ता है और उन्हें नव लेखन के मूल में कार्य करने वाले नवीन तत्त्वों और नवीन वोधो को स्पष्ट करना पड़ता है। आधुनिक काल में हिन्दी के छायावादी कवियों ने यह दायित्व वड़ी शक्ति के साथ सँभाला और तत्कालीन नवीन वोध के प्रति उद्‌बुद्ध आलोचकों के साथ ही वे भी छायावादी काव्य के स्वरूप को उद्‌घाटित करने में रुचि दिखाते रहे। छायावाद के सम्वन्ध में विचार करते हुए उन्हें काव्य की नये सिरे से व्याख्या भी करनी पड़ी।

श्री जयशंकर प्रसाद

प्रसादजी अच्छे स्रष्टा तो थे ही, अच्छे अध्येता, विचारक और दार्शनिक भी थे। इतिहास के मर्मज्ञ थे। उन्होने इतिहास के तथ्यों की दार्शनिक और साहित्यिक व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। उन्होने इन तथ्यों का विवेचन विशेष उद्देश्य से परिचालित होकर किया। प्रसादजी छायावाद के श्रेष्ठ कवि थे। छायावाद और रहस्यवाद पर उन्होंने अनेक आक्षेप सुने थे। छायावाद और रहस्यवाद विदेशी और नकली चीजें है। प्रसादजी ने इतिहास का आधार ले कर सिद्ध किया कि ये प्रवृत्तियाँ भारतीय साहित्य की मूल प्रवृत्तियाँ है और ये ही वास्तविक है। प्रसादजी ने भारतीय साहित्य की आनन्दवादी और दु खवादी दो धाराओ की खोज कर एक का सम्वन्ध भाव से जोड़ा, दूसरे का सम्वन्ध वुद्धि से। प्रसादजी की दृष्टि में आनन्दवादी भावधारा ही रहस्य-वादी धारा है और वही सत्य है। रहस्यवाद से इतर काव्य अस्वाभाविक है। मन संकल्पात्मक और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है, तर्क-वितर्क द्वारा श्रेय की प्रतिष्ठा करता है और संकल्प अनुभूति द्वारा सत्य (श्रेय) को ग्रहण कर लेता है। 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्वन्ध विश्लेपण, विकल्प या विज्ञान से नही है। वह एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञान धारा है।'

इस प्रकार प्रसादजी ने छायावाद और रहस्यवाद को परम्परा-जन्य सिद्ध करके उसकी जड़ मजवूत तो की किन्तु इसी कारण वे छायावाद में लक्षित होने वाले नवीन तत्त्वो का विश्लेपण नही कर सके—यद्यपि 'कामायनी' उन नवीन तत्त्वो का पुँजीभूत काव्य है।

प्रसादजी ने 'काव्य और कला', 'यथार्थवाद और छायावाद', 'रस', 'नाटको में रस प्रयोग' आदि निवन्धों में सम्वद्ध विपयो का वड़ा मार्मिक विवेचन किया। इन निवन्धों से ज्ञात होता है कि प्रसाद के पास भावुक

कवि-हृदय के साथ ही साथ पाण्डित्यपूर्ण, विचार-सक्षम मस्तिष्क भी था। प्रसादजी ने गवेषणात्मक आलोचना का बड़ा गम्भीर रूप प्रस्तुत किया। इन्होंने प्राचीन साहित्य की सामग्रियो को अत्यन्त समर्थ विश्लेषण-क्षमता के साथ अभिप्रेत उद्देश्य से सजाने का काम किया, शास्त्रीय ढग से साहित्यिक प्रश्नो को सुलझाने का प्रयास किया। किन्तु इनकी आलोचनाएँ वर्त्तमान आलोचना को बहुत दूर तक प्रभावित नहीं कर सकीं।

श्री सुमित्रानन्दन पंत

पंतजी की कविताओ मे दिखाई पडने वाली विकासशीलता उनकी आलोचनाओं में भी दिखाई पडती है। यो ये भी आलोचक नही है किन्तु अपनी पुस्तकों की प्रस्तावना और कुछ फुटकल निबन्धों में जो कुछ कहा है उसका बडा महत्त्व है क्योंकि इन भूमिकाओं और निबन्धो से तत्कालीन कविता के स्वरूप और दृष्टिकोण को समझने में बडी सहायता मिली है। इनके विचारों ने बहुत दूर तक तत्कालीन हिन्दी आलोचना को प्रभावित किया है। प्रसादजी तत्कालीन काव्य प्रवृत्तियों का सम्बन्ध सुदूर अतीत से जोड़ते रहे, महादेवीजी अन्तर्बाह्य की एकता का बारीक पुट बुनती रही। किन्तु पंतजी ने बडे साफ तौर पर स्वीकार किया कि कविता के सृजन पर युगीन विचार-क्रान्तियो का बडा प्रभाव पडता है। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ मान्यताओ और मूल्यो को बदलती रहती है या प्रभावित करती रहती है। रीतिकाल और छायावाद को आमने-सामने रख कर कवि ने दोनों के युगीन तात्त्विक अन्तरो को स्पष्ट किया। 'पल्लव' की भूमिका छायावाद को समझने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

छायावाद के मर्म के शिल्पी और उसके विश्लेषक पंतजी साहित्य को समाज की सापेक्षता में ही देखने के कारण छायावाद को उसके अन्तिम दिनों में शक्ति-शून्य मानने लगे थे और इस अलंकृत संगीत के स्थान पर मिट्टी से फूटने वाले मानव स्वरो को ही प्रतिष्ठित करना कवि-कर्म और आलोचक-धर्म समझने लगे थे। भौतिकवादी दर्शन की छवि इस संवेदनशील कवि की आँखो में भरपूर उभर आयी। वे धीरे-धीरे पूर्ण रूप से सामाजिक नैतिकता, मानव उत्थान के दायित्व से कवि-कर्म को जोड़ने लगे। कहने का अर्थ यह है कि पंतजी स्वच्छन्दतावादी कवि-आलोचक होने के नाते संवेदना को काव्य में प्रथम स्थान देते अवश्य है किन्तु वे संवेदना को युगीन चेतना के संदर्भ में देखते रहे और उसका विश्लेषण भी इसी ढग से करते रहे।

बाद में उनकी विचारधारा पर अन्यान्य दर्शनों के प्रभाव से चिन्तन की बोझिलता अधिक छा गयी, अनुभूतियों का रस धीरे-धीरे कम हो गया।

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

निरालाजी का कार्य इन कवि समीक्षकों से कुछ भिन्न था। जहाँ अन्य कवियों ने अपनी प्रवृत्तियों और वादों का सैद्धान्तिक विवेचन तथा प्रतिपादन किया वहाँ निरालाजी ने कृतियों की व्याख्या की, कला के मर्म की मीमांसा की। कौन-सी कविता पूर्ण कलात्मक है, किस कविता में कला विकलांग हो गयी है, किस कविता में जीवन की संवेदना अधिक है, किसमें केवल रूप पक्ष है, किसमें दोनों का सन्तुलन है, किसमें जीवन की शक्ति अधिक मुखर है आदि तत्त्वों की विवेचना निरालाजी से अधिक सक्षम रूप में उस समय कोई नहीं कर सका और सच बात तो यह है कि ऐसा कला-मर्मज्ञ समीक्षक इस पूरे आधुनिक युग में कोई नहीं दिखाई पड़ा।

'पंत और पल्लव' प्रतिक्रिया में लिखा गया निबन्ध है। पल्लव की भूमिका में व्यक्त विचारों का खण्डन बड़ी निर्ममता से किया गया है किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर पंत की कविताओं के जो दोष और कहीं-कहीं गुण दिखाये गये हैं वे निरालाजी के जाग्रत सौन्दर्य-बोध, सूक्ष्म दृष्टि, अध्ययन और उच्चकोटि की रसज्ञता के परिचायक हैं। 'मेरे गीत और कला' में लेखक ने अपनी कला की व्याख्या करते हुए पंतजी के काव्य की कुछ अन्य विशेषताओं की ओर संकेत किया है। पंतजी की कविताओं पर निरालाजी द्वारा किये गये अनेक आक्षेपों के स्वर कटु जान पड़ेंगे, उनमें एकांगिता भी लक्षित होगी किन्तु उन्होंने इन कविताओं में जो दोष दिखाये हैं वे निरालाजी की विश्लेषण-शक्ति और पकड़ के परिचायक हैं। निराला ने पंतजी के शब्दों के चिन्त्य प्रयोग, मौलिकता का अभाव, ओज का अभाव पर विचार तो किया ही है उनके वर्ण-विन्यास का बड़ा मार्मिक विश्लेषण किया है। कालिदास की तरह पंतजी भी श, ण, व, ल स्कूल के हैं।

निरालाजी ने काव्य के कुछ अन्य प्रश्नों को भी बड़ी समझदारी से उठाया। पंतजी ने पल्लव की भूमिका में अपने को मुक्त छन्द का सर्वप्रथम प्रयोक्ता माना है तथा मुक्त छन्द का विवेचन भी किया है। निरालाजी ने मुक्त छन्द के स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यन्त भिन्न स्थापनाएँ कर सिद्ध किया कि पंतजी की कविताओं में स्वच्छन्द छन्द की एक लड़ी भी नहीं है। निरालाजी ने पंतजी के इस कथन का विरोध किया है कि स्वच्छन्द छन्द ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चल सकता है। निरालाजी की दृष्टि में स्वच्छन्द

छन्द में आर्ट आफ म्यूजिक नही है, आर्ट आफ रीडिंग है, वह स्वर-प्रधान नहीं है, व्यंजन-प्रधान है, वह कविता की स्त्री-सुकुमारता नहीं, कवित्व का पुरुष-गर्व है। उसका सौन्दर्य गाने में नहीं वार्त्तालाप करने में है। इस प्रकार इन्होने मात्रिक छन्द और मुक्त छन्द के मौलिक अन्तरो को स्पष्ट करते हुए यह कहा कि मुक्त छन्द की सृष्टि कवित्त छन्द से हुई है।

निरालाजी साहित्यिक सिद्धान्तो की बाते प्राय नहीं उठाते। व्यावहारिक मूल्यांकन के बीच-बीच में ही उनकी चर्चा कर बैठते है। फिर भी उनके साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को व्यक्त करने वाले कुछ निबन्ध है, जैसे—काव्य में रूप और अरूप, साहित्य और भाषा, हमारे साहित्य का ध्येय, साहित्य का फल अपने ही वृत्त पर, रचना-सौष्ठव आदि।

निरालाजी मानवतावादी और विकासमान भाव और विचार-परंपरा में विश्वास रखने वाले कवि है किन्तु प्रतिक्रिया के आवेश में या असंतुलित अवस्था में अनावश्यक प्राचीनता और दार्शनिकता के प्रति मोह दिखाने लगते है।

सुश्री महादेवी वर्मा

महादेवीजी ने भी अधिकाश स्वच्छन्दतावादी आलोचको की भाँति छायावादी काव्यदृष्टि को शुद्ध साहित्यिक दृष्टि मान कर उसके समर्थन में बहुत कुछ कहा है। महादेवीजी ने अपने सभी साहित्यिक निबन्धो में यह प्रतिपादित करना चाहा है कि काव्य-चेतना व्यापक सांस्कृतिक चेतना है जो प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी सत्यों का स्पर्श सौन्दर्य के माध्यम से करती है।

महादेवीजी ने भी अन्य स्वच्छन्दतावादी समीक्षको और कवियों की तरह अनुभूति को प्रधानता दी है। इन्होने बुद्धि और राग की क्रियाओं और छवियो का अन्तर उपस्थित कर बड़ी मार्मिकता से अनुभूति का पक्ष प्रतिष्ठित किया है। अनुभूति पक्ष की प्रधानता तो सभी छायावादी मानते है किन्तु महादेवीजी के प्रतिपादन का ढंग बड़ा विलक्षण और काव्यात्मक है। इन्होने कला का रूप निर्माण करने वाले अनेक तत्त्वो के सम्बन्ध में उलझे हुए प्रश्नों को एक-एक करके लिया है।

काव्य कला का सत्य एक अखण्ड सत्य है जो जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त होता है। कविता का साध्य सत्य है जो कि अखण्ड है किन्तु सौन्दर्य साधन है जो कि अनेक है। सौन्दर्य का सम्बन्ध व्यक्ति के संस्कारो से भी होता है अतः उसमें वैविध्य लक्षित होता है, व्यक्तिवादिता दिखाई पड़ती है, स्रष्टा की अनुभूतियों का स्पर्श होता है। अतः कला एक ही साथ सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों होती है।

महादेवीजी ने कला के संदर्भ में सौन्दर्य की मार्मिक विवेचना की है। कला सुन्दर तथा कुरूप के व्यावहारिक वर्गीकरण को स्वीकार नही करती। सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते है वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल वाह्य रूपरेखा पर नहीं। 'जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त छोटा-वडा, लघु-गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक कुछ भी कला-जगत् से वहिष्कृत नहीं किया जाता।'

महादेवीजी जीवन और कला का सम्बन्ध अनिवार्य समझती है। कलाकार के निर्माण मे जीवन के निर्माण का लक्ष्य छिपा रहता है जिसकी स्वीकृति के लिए जीवन की विविधता आवश्यक रहती है। कला और जीवन का सम्वन्ध सभी छायावादी कवि और आलोचक स्वीकारते रहे है किन्तु इन सम्वन्धो के स्वरूप की व्याख्या में भिन्नता हो जाती है। महादेवीजी ने साहित्य और जीवन की अन्य उपलब्धियो—ज्ञानधाराओ, उपयोगिता और नैतिकता, दर्शन के सम्वन्धो पर विचार किया है किन्तु सर्वत्र साहित्यिक दृष्टि को ही साथ रखा है अर्थात् साहित्यिक मानदण्ड पर ही इन अनेक प्रश्नो का विश्लेषण किया है। उनकी दृष्टि में काव्य जीवन की समग्रता को अपनाने के ही कारण इतना पूर्ण है। दर्शन बुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज शुरू करके उसे सूक्ष्म विन्दु तक पहुँचा कर संतुष्ट हो जाता है। अन्तर्जगत् का सारा वैभव परख कर सत्य का मूल्य आँकने का उसे अवकाश नहीं रहता, भाव की गहराई में डूब कर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नही किन्तु काव्य-कला तो जीवन को चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करती है। अत: कवि का दर्शन जीवन के प्रति आस्था का दूसरा नाम है।

कहा जा चुका है कि छायावादी काव्य और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा में विषय का नही अनुभूति का महत्त्व स्वीकारा गया है। महादेवीजी की भी दृष्टि में कविता लिखने के लिए वडा विषय नहीं वड़ा हृदय चाहिये। 'जल का एक रग भिन्न-भिन्न रंग वाले पात्रो में जैसे अपना रंग वदल देता है उसी प्रकार चिरंतन सुख-दु:ख हमारे हृदयों की सीमा और रंग के अनुसार वन कर प्रकट होते है।'

महादेवीजी ने तत्कालीन नयी चेतना को परखा अवश्य है किन्तु अपने विश्लेषणो में वे प्राय: शाश्वतवादी विचारको की तरह काव्य और कला के चिरंतन मूल्यो और प्रकृतियो पर ही विचार करती दीखती है। छायावाद

को भी लेखिका ने पूर्ववर्ती काव्य की अगली विकास कड़ी के रूप मे या एक नयी चेतना-धारा के रूप में न स्वीकार कर अध्यात्म और दर्शन के सूक्ष्म ततुओ से उसे उलझाया है। नये काव्य के नवीन तत्त्वो का अन्वेषण न कर काव्य के चिरंतन तत्त्वो की व्याख्या की है। हाँ, यह अवश्य है कि इस व्याख्या में महादेवीजी का नवीन युग में बना हुआ व्यक्तित्व नये ढंग से अनेक प्रश्नों को प्रस्तुत करता है जो निश्चय ही उनके मौलिक चिन्तन, सूझ-बूझ और पांडित्य का परिचायक है।

प्रगतिवादी आलोचना इसी दृष्टि को ले कर प्राचीन साहित्य का भी मूल्यांकन करती है। वे ग्रन्थ जो मात्र रसवादी है, या जो मात्र शिल्प की दृष्टि से बहुत चमत्कारी हैं प्रगतिवादी आलोचना की दृष्टि से उच्च नहीं सिद्ध होते। उच्च साहित्य वह है जो रस या अनुभूति का सर्जन या अभिव्यक्ति व्यापक सामाजिक जीवन के अगणित सम्बन्धों के संदर्भ में करे।

प्रगतिवाद साहित्य को वर्गचेतना की अभिव्यक्ति मानता है। जाग्रत समाज में साहित्य भी जाग्रत होता है। स्थितिशील मन्द और ह्रासोन्मुखी समाज में साहित्य का उच्च स्वर सुनने में नही आता। 'काडवेल्' के अनुसार महान् कविता केवल वे ही लिख सकते है जो आजाद है (इल्यूजन एण्ड रियलिटी)। सामन्त वर्ग अपेक्षाकृत आजाद है अत. वह महाकाव्यो की रचना करता है, किन्तु शोषित शूद्र और दास केवल दन्तकथाओ, लोकगीतों, भजन जैसे गौण साहित्य को जन्म देते है। इस प्रकार प्रगतिवाद साहित्य-रचना पर वर्गचेतना का प्रभूत प्रभाव मानता है। अतएव यदि कोई साहित्यकार शोषक वर्ग का है और शोषितो पर साहित्य लिखना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह शोषितो के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष मे भाग ले कर अपना वर्गीय संस्कार बदले। यह मत उन लोगों के विचारो का प्रतिवाद करता है जो यह मानते हैं कि उच्च साहित्य की सृष्टि अभाव और कष्ट से होती है तथा ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा सर्जन के मूल में होती है। इस प्रकार का विचार रखने वाले लोग समाज की विषमता और विपन्नता को ईश्वर-निर्मित मान कर उन्हें बनाये रखने की कोशिश करते है। सुन्दर साहित्य का निर्माण स्वतंत्र, जागरूक या स्वतंत्रता की भावना से जाग्रत समाज में ही सम्भव है। अतः प्रगतिशील आलोचना ने साहित्य की परीक्षा करते हुए स्रष्टा की वर्गीय चेतना का विश्लेषण भी किया है। प्रगतिवादी समीक्षा ने शुद्ध रसवाद और भाववाद का विरोध कर उनके मूल प्रेरणा-स्रोतो पर विचार किया। अपनी सारी रसात्मक उपलब्धि के बावजूद वह साहित्य निष्क्रिय है जो बुर्जुआ कोटि के आलंबनो और वस्तुओ को स्वीकार कर रस को सृष्टि करना चाहता है। साहित्य का लक्ष्य होना चाहिये संवेदनाओ और चित्रो के माध्यम से ह्रासशील समाज की कुरूपता और असंगतियो तथा गतिशील समाज के जीवत विश्वासों और उभरती हुई आस्थाओ को उद्घाटित करना, संघर्ष करती हुई जनता को नव-निर्माण के लिए विश्वासशील बनाना। प्रगतिवादी आलोचना साहित्य-परीक्षण के समय साहित्य में यथार्थ के इन्हीं आयामो को खोजती है।

प्रगतिवादी साहित्य में सौन्दर्यबोध का मान भी बदला। साहित्य में सौन्दर्य की सृष्टि कहाँ से होती है? प्रगतिवाद मानता है कि लोक-जीवन

के गहरे और व्यापक यथार्थों को उद्घाटित करने से ही साहित्य के सौन्दर्य की सृष्टि होती है। साहित्य के सौन्दर्य की सत्ता उसकी रसवादिता या चमत्कारशीलता में नहीं वल्कि समाज के विविध सम्बन्धो के गहन बोध और मार्मिक उद्घाटन में है। प्रगतिवादियो ने सौन्दर्य को जीवन के बीच देखा। पूरे आधुनिक काल की प्रवृत्ति यथार्थवादी रही। किन्तु प्रगतिवाद के पूर्ववर्ती साहित्य में यथार्थवाद के साथ आदर्शवाद या आभिजात्य सस्कार इस कदर चिपका हुआ है कि शुद्ध यथार्थवाद का स्वरूप निखर नहीं सका। प्रसाद के शब्दो में यथार्थवाद की एक प्रमुख विशेषता है लघुता की ओर दृष्टिपात। छायावाद ने भी लघुता की ओर दृष्टिपात किया किन्तु उसका लघुता की ओर दृष्टिपात केवल दो क्षेत्रो में दिखाई पडता है—प्रकृति के क्षेत्र मे और अनुभूतियो के क्षेत्र में। प्रकृति के छोटे-छोटे अनदेखे-अनछुए उपकरण लिये गये और अनुभूतियो के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्तर उद्घाटित किये गये। समाज के दीन-दलित लघुमानवो की कहानी कहनी बाकी थी। प्रगतिवाद ने समाज के तथाकथित छोटे, अनपढ, गँवार मनुष्यो और उनके जीवन की अँधेरे में पड़ी समस्याओ और पीड़ाओं को उद्घाटित कर सच्चे अर्थों में यथार्थवाद का स्वरूप आलोकित किया। कहने का तात्पर्य यह है कि इन कवियों ने जन-जीवन के बीच सौन्दर्य देखा। दृष्टि वदल गयी थी, अत. सौन्दर्य भी वहाँ-वहाँ दिखाई पडने लगा, जहाँ-जहाँ अभी तक किसी की नजर नहीं गयी थी। प्रकृति भी गाँवो के जीवन के संदर्भ में देखी जाने लगी। उसका वही रूप सुन्दर दिखाई पड़ा जो जन-जीवन के संघर्षमय जीवन से जुडा हुआ था। प्रगतिवादी समीक्षा ने इसी सौन्दर्य से मडित साहित्य को वास्तव में सुन्दर साहित्य कहा।

कहा जा चुका है कि प्रगतिवादी समीक्षा-दृष्टि साहित्य-सर्जन को सोद्देश्य मानती है। साहित्य का मूल धर्म रस संचार कर हमारे मन को तृप्त करना नहीं है, हमारी सवेदनाओ को जगा कर आनन्दित करना नही है वरन् इन माध्यमों से सामाजिक जीवन के बुनियादी सत्यो का वोध कराना, हमारी चेतना को जाग्रत करना और हमें अपने-आपको तथा पूरे समाज को समझने में सहायता देना है। कुछ लोग समझते है कि प्रगतिवादी साहित्य और समालोचना प्रचार या प्रोपेगेंडा का समर्थक है। वह साहित्य के साहित्यिक गुणो को न परख कर उसके प्रचार-पक्ष को देखता है। किन्तु यह दोपारोपण वास्तव में सही नही है। व्यवहार में भले ही कुछ कवियों

तृतीय उत्थान

(प्रगतिवादी आलोचना : १९३५ से अब तक)

छायावाद अपने अंतिम काल में कुंठा-ग्रस्त हो चला। उसमें गत्यवरोध उत्पन्न हो गया। उसमें सामाजिक शक्ति नहीं रह गयी थी। धीरे-धीरे हिन्दी के साहित्यकारो ने इस ह्रास की स्थिति का अनुभव कर नवीन सशक्त सामाजिक तत्त्वो को पहचानना शुरू किया और उन्हे रूप देने को उत्सुक हो उठे।

कई अन्य देशो में भी साहित्यकार इस स्थिति से गुजर चुके थे। पतनोन्मुख पूँजीवाद की दीवारें गिरा कर उस पर सामाजिक जीवन का सुन्दर भवन खडा करने का आन्दोलन पश्चिम में, विशेषतया रूस में, छिड़ चुका था। मार्क्स और एंगेल्स ने समाजो के वैज्ञानिक अध्ययन के परिणामस्वरूप द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त की स्थापना की थी। मार्क्स ने इसी दृष्टिकोण से समाज और प्रकृति के प्रत्येक पक्ष पर गंभीर विचार व्यक्त किये। उनकी स्थापनाएँ थीं कि सामाजिक विकास के मूल में उसका आर्थिक आधार है। उत्पादन के साधनो के बदलने से सामाजिक सम्बन्ध बदलते है और सामाजिक सम्बन्धो के बदलने से उन्हें अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य और दर्शन भी बदलते है। हर युग में समाज की नयी शक्तियाँ पुरानी शक्तियो से संघर्ष करती है। इन्हीं जीवनोन्मुख सामाजिक शक्तियो को स्वर देने वाले साहित्य जीवन-उष्म होते है और प्राचीन मरणोन्मुख शक्तियो को अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य निर्जीव होते है। मार्क्सवाद मानता है कि पूँजीवाद के बाद समाजवाद का आना स्वाभाविक क्रम है। मार्क्सवाद का यह नवीन दर्शन देश-विदेश के साहित्यकारों को प्रभावित कर अपने अनुकूल साहित्य लिखवाने में समर्थ हुआ। मरणोन्मुख पँजीवाद के प्रभाव से पीडित साहित्य के स्थान पर इस उत्साहमय जीवनान्दोलित साहित्य को ग्रहण करने के लिए सभी देशो में एक अपूर्व उल्लास दिखाई पडा।

हिन्दी में भी सन् १९३५ के आस-पास यह स्वर सुनाई पडने लगा। यो तो छायावादी कवि निराला की अनेक कविताओ में काफी पहले दीन-दलितों के प्रति करुणा और जर्जर रूढ़ियो तथा शोषक मान्यताओ के प्रति आक्रोश का

भाव व्यक्त हो चुका था—भारतेन्दु-काल के कवियो ने भी अपने समाज की विडंबनाओ, गुलामी, अकाल इत्यादि पर कविताएँ लिख कर यथार्थवादी साहित्य-सर्जन का सूत्रपात किया था, किन्तु एक आन्दोलन के रूप मे और एक सुनिश्चित दृष्टिकोण के रूप में इस प्रकार का साहित्य सन् १९३५ के आस-पास से ही देखा जा सकता है।

छायावादी कवि स्वयं अपनी कविताओ के कुंठावादी स्वर से ऊब गये, अत. वे जैसे किसी नये क्षेत्र की खोज में थे। प्रगतिवाद के आते ही जैसे उन्हे खुली जगह मिल गयी। इस नवीन दर्शन और समाज-निर्माण की भावना ने उनमें एक अपूर्व उल्लास भर दिया। पन्तजी इन कवियो में अग्रगण्य है।

प्रगतिवाद रचना और आलोचना के क्षेत्र मे नयी जीवन-दृष्टि, नया सौन्दर्यबोध, नया शिल्प-विधान और नूतन संवेदन लेकर आया। प्रगतिवाद ने मूल्यांकन का आधार ही बदल दिया। प्रगतिवाद ने साहित्य को व्याख्या के साहित्यिक रस और सूक्ष्म तत्त्व उद्घाटन की सीमा से आगे बढा कर एक विशेष किन्तु उदात्त लोक-मंगल के दृष्टिकोण से समन्वित सामाजिक यथार्थवाद की भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। साहित्य का निर्माण सोद्देश्य है। साहित्य का उद्देश्य सामाजिक यथार्थ का सही और मार्मिक उद्घाटन करना है। सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने के ही नाते कोई कृति जीवन्त होती है। लेकिन सामाजिक यथार्थ है क्या चीज ? सतह पर बिखरा हुआ मानव-कमजोरियो या बाह्य क्रिया-कलापो का कूड़ा-करकट यथार्थ नही है। यथार्थ है बुनियादी सत्य। बुनियादी सत्य सतह के ऊपर बिखरे नहीं होते वरन् सतह के नीचे स्थित रह कर मनुष्य-समाज की गतिविधियो का सचालन करते है। इस प्रकार किसी युग के समाज के आधारभूत प्रश्नों, समस्याओं, संघर्षों, आशा-कांक्षाओं और चिन्तन-भाव-धाराओ को यथार्थ अपनी सीमा में समेटता है। प्रत्येक युग में शोषक और शोषित इन दो वर्गों का संघर्ष होता आया है। शोषित शक्तियाँ शोषक शक्तियो से संघर्ष कर उन्हे उठा फेकने का प्रयत्न करती है, सडी-गली शोषक मान्यताओं और जीवन-मूल्यों के स्थान पर नयी सामाजिक मान्यताओं और मूल्यो की प्रतिष्ठा करना चाहती है। यह संघर्ष व्यक्तिगत नही, सामूहिक होता है। यह संघर्ष अपार जनता के जीवन की गति, उनकी पीड़ाओं और तात्कालिक असफलताओ के साथ उनके सामूहिक उल्लास और भावी विजय के प्रति आस्था के भाव को समेटे रहता है। इसलिए साहित्य वही महान् है जो सामाजिक यथार्थ की शक्तियों से संवलित हो।

प्रगतिवादी आलोचना इसी दृष्टि को ले कर प्राचीन साहित्य का भी मूल्यांकन करती है। वे ग्रन्थ जो मात्र रसवादी है, या जो मात्र शिल्प की दृष्टि से बहुत चमत्कारी है प्रगतिवादी आलोचना की दृष्टि से उच्च नहीं सिद्ध होते। उच्च साहित्य वह है जो रस या अनुभूति का सर्जन या अभिव्यक्ति व्यापक सामाजिक जीवन के अगणित सम्बन्धो के संदर्भ में करे।

प्रगतिवाद साहित्य को वर्गचेतना की अभिव्यक्ति मानता है। जाग्रत समाज में साहित्य भी जाग्रत होता है। स्थितिशील मन्द और ह्रासोन्मुखी समाज में साहित्य का उच्च स्वर सुनने में नही आता। 'काडवेल' के अनुसार महान कविता केवल वे ही लिख सकते है जो आजाद है (इल्यूजन एण्ड रियलिटी)। सामन्त वर्ग अपेक्षाकृत आजाद है अत: वह महाकाव्यो की रचना करता है, किन्तु शोषित शूद्र और दास केवल दन्तकथाओं, लोकगीतो, भजन जैसे गौण साहित्य को जन्म देते है। इस प्रकार प्रगतिवाद साहित्य-रचना पर वर्गचेतना का प्रभूत प्रभाव मानता है। अतएव यदि कोई साहित्यकार शोषक वर्ग का है और शोषितो पर साहित्य लिखना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह शोषितों के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष में भाग ले कर अपना वर्गीय संस्कार बदले। यह मत उन लोगो के विचारो का प्रतिवाद करता है जो यह मानते है कि उच्च साहित्य की सृष्टि अभाव और कष्ट से होती है तथा ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा सर्जन के मूल में होती है। इस प्रकार का विचार रखने वाले लोग समाज की विषमता और विपन्नता को ईश्वर-निर्मित मान कर उन्हे बनाये रखने की कोशिश करते है। सुन्दर साहित्य का निर्माण स्वतंत्र, जागरूक या स्वतंत्रता की भावना से जाग्रत समाज में ही सम्भव है। अत: प्रगतिशील आलोचना ने साहित्य की परीक्षा करते हुए स्रष्टा की वर्गीय चेतना का विश्लेषण भी किया है। प्रगतिवादी समीक्षा ने शुद्ध रसवाद और भाववाद का विरोध कर उनके मूल प्रेरणा-स्रोतो पर विचार किया। अपनी सारी रसात्मक उपलब्धि के बावजूद वह साहित्य निष्क्रिय है जो बुर्जुआ कोटि के आलंबनो और वस्तुओ को स्वीकार कर रस की सृष्टि करना चाहता है। साहित्य का लक्ष्य होना चाहिये संवेदनाओ और चित्रो के माध्यम से ह्रासशील समाज की कुरूपता और असंगतियों तथा गतिशील समाज के जीवंत विश्वासो और उभरती हुई आस्थाओ को उद्घाटित करना, संघर्ष करती हुई जनता को नव-निर्माण के लिए विश्वासशील बनाना। प्रगतिवादी आलोचना साहित्य-परीक्षण के समय साहित्य में यथार्थ के इन्हीं आयामो को खोजती है।

प्रगतिवादी साहित्य में सौन्दर्यबोध का मान भी बदला। साहित्य में सौन्दर्य की सृष्टि कहाँ से होती है? प्रगतिवाद मानता है कि लोक-जीवन

के गहरे और व्यापक यथार्थों को उद्घाटित करने से ही साहित्य के सौन्दय की सृष्टि होती है। साहित्य के सौन्दर्य की सत्ता उसकी रसवादिता या चमत्कारशीलता में नहीं बल्कि समाज के विविध सम्बन्धो के गहन बोध और मार्मिक उद्घाटन में है। प्रगतिवादियों ने सौन्दर्य को जीवन के बीच देखा। पूरे आधुनिक काल की प्रवृत्ति यथार्थवादी रही। किन्तु प्रगतिवाद के पूर्ववर्ती साहित्य में यथार्थवाद के साथ आदर्शवाद या आभिजात्य संस्कार इस कदर चिपका हुआ है कि शुद्ध यथार्थवाद का स्वरूप निखर नहीं सका। प्रसाद के शब्दों में यथार्थवाद की एक प्रमुख विशेषता है लघुता की ओर दृष्टिपात। छायावाद ने भी लघुता की ओर दृष्टिपात किया किन्तु उसका लघुता की ओर दृष्टिपात केवल दो क्षेत्रो में दिखाई पडता है—प्रकृति के क्षेत्र में और अनुभूतियो के क्षेत्र में। प्रकृति के छोटे-छोटे अनदेखे-अनछुए उपकरण लिये गये और अनुभूतियो के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्तर उद्घाटित किये गये। समाज के दीन-दलित लघुमानवो की कहानी कहनी बाकी थी। प्रगतिवाद ने समाज के तथाकथित छोटे, अनपढ़, गँवार मनुष्यो और उनके जीवन की अँधेरे में पड़ी समस्याओं और पीड़ाओं को उद्घाटित कर सच्चे अर्थों में यथार्थवाद का स्वरूप आलोकित किया। कहने का तात्पर्य यह है कि इन कवियो ने जन-जीवन के बीच सौन्दर्य देखा। दृष्टि बदल गयी थी, अत. सौन्दर्य भी वहाँ-वहाँ दिखाई पडने लगा, जहाँ-जहाँ अभी तक किसी की नजर नहीं गयी थी। प्रकृति भी गाँवों के जीवन के संदर्भ में देखी जाने लगी। उसका वही रूप सुन्दर दिखाई पडा जो जन-जीवन के संघर्षमय जीवन से जुडा हुआ था। प्रगतिवादी समीक्षा ने इसी सौन्दर्य से मंडित साहित्य को वास्तव में सुन्दर साहित्य कहा।

कहा जा चुका है कि प्रगतिवादी समीक्षा-दृष्टि साहित्य-सर्जन को सोद्देश्य मानती है। साहित्य का मूल धर्म रस संचार कर हमारे मन को तृप्त करना नहीं है, हमारी सवेदनाओ को जगा कर आनन्दित करना नही है वरन् इन माध्यमो से सामाजिक जीवन के बुनियादी सत्यो का बोध कराना, हमारी चेतना को जाग्रत करना और हमें अपने-आपको तथा पूरे समाज को समझने में सहायता देना है। कुछ लोग समझते है कि प्रगतिवादी साहित्य और समालोचना प्रचार या प्रोपेगेंडा का समर्थक है। वह साहित्य के साहित्यिक गुणों को न परख कर उसके प्रचार-पक्ष को देखता है। किन्तु यह दोषारोपण वास्तव में सही नहीं है। व्यवहार में भले ही कुछ कवियों और आलोचकों ने इस तरह की हरकतें दिखाई हों किन्तु सिद्धान्त के रूप

में प्रगतिवाद साहित्य को नंगा प्रचार नहीं मानता। वह प्रचार को बुरा नहीं मानता यदि वह जनहित में हो, वास्तविकता के धरातल से फूटा हो और साहित्य में वह व्यंजित हुआ हो। 'लेकिन यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि सारे साहित्य को प्रोपेगेंडा या सामाजिक प्रभाव का अस्त्र कह कर आज के समाज में उसके एक महत्त्वपूर्ण संविधायक पहलू का ही निर्देश किया जाता है और केवल इस दृष्टि से खरी उतरने वाली कोई रचना अपने मे श्रेष्ठ नहीं हो जाती। उसकी श्रेष्ठता का निरूपण करते समय उसकी सौन्दर्यानुभूति, उसकी रूप-योजना, शैली और प्रौढता, वाक्य-रचना, शब्द-प्रयोग इत्यादि अनेक दूसरी कसौटियो पर कसना आवश्यक है और प्रगतिवादी इन सब कसौटियो पर किसी भी काव्य या साहित्य-कृति का कसना आवश्यक समझते हैं, उनके महत्व को जानते है, यद्यपि आज के संक्रमण काल में वे साहित्य के संविधायक पहलू को दृष्टि में रख कर उसका सामाजिक दृष्टिकोण से विवेचन करना अधिक आवश्यक समझते हैं।'[१]

प्रगतिवाद ने भाषा-शैली को छायावादी शैली के अलकरण और सूक्ष्मता के प्रतिकूल सादी और जनसामान्य बनाने की कोशिश की। भाषा, छन्द, अलंकार सभी में लोकजीवन की सहजता और सादगी भरने का प्रयास किया गया। जिन लोगों ने छायावादी शिल्प-संस्कारों से ग्रस्त हो कर प्रगतिवादी कविताएँ लिखीं, उनमें स्पष्टत प्रगतिवादी विषय और छायावादी शिल्प का बेमेल जोड़ दिखाई पड़ता है। दूसरी ओर सादगी और सहज प्रेषणीयता के आवेश में बहुतेरे प्रगतिशील कवियो ने चित्रात्मकता, साकेतिकता, संक्षिप्तता का दामन छोड दिया और सपाट ढंग से नारेबाजी से भरी कविताएँ लिखने लगे। खैर, ये भिन्न-भिन्न कवियो की व्यावहारिक सीमाएँ हो सकती है किन्तु इतना सत्य है कि सिद्धान्त रूप से प्रगतिशील समीक्षा ने छन्द, अलंकार, भाषा-शैली को जन-सामान्य के बीच से ग्रहण करने की प्रवृत्ति जगायी। लोक-जीवन से ली गयी उपमाएं, भाषा को सहजता, शैली का प्रवाह और लोकगीतो की धुन, ताजगी और जीवन्त शक्तियो से भरी होती है। जनता को प्रभावित करने की उनमे बडी शक्ति होती है। इसलिए प्रगतिवादी समीक्षा ने शिल्प के इस पक्ष पर विशेष जोर दिया। श्री शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृत राय, रांगेय राघव और नामवर सिंह के नाम इस क्षेत्र में उल्लेख्य है।

---

१. प्रगतिवाद : शिवदान सिंह चौहान।

श्री शिवदान सिंह चौहान

श्री चौहान का प्रगतिशील दृष्टिकोण स्पष्ट और स्वस्थ है। ये साहित्य के गम्भीर अध्येता है। इनकी रुचि कलात्मक और परिष्कृत है। इसलिए चौहानजी की समीक्षाओ में सर्वत्र साहित्यिकता लक्षित होती है। ये साहित्य मे सपाट और असंयत शिल्प-योजना के पक्षपाती नहीं। ये साहित्य में सौन्दर्यानुभूति, मानवीय संवेदना तथा विकसित कलात्मक उपलब्धियो की स्वीकृति देखना चाहते है। अतएव इनकी समीक्षाओ मे प्रगति और परम्परा का सतुलित रूप दिखाई पडता है। कई प्रगतिशील आलोचको में दिखाई पड़ने वाली एकांगिता, संकीर्णता और हठवादिता इनमें नहीं दिखाई पडती।

ये प्रगतिवाद को विशेष मत के प्रचार का आन्दोलन नहीं मानते और उसकी व्याख्या अधिक व्यापक और संश्लिष्ट भूमिका पर करते है। साहित्य चाहे किसी वाद से सम्बन्धित हो, उसकी कुछ मूलभूत विपशेताएँ होती है। उन विशेपताओ की रक्षा करते हुए वह युगीन दृष्टियो और चेतनाओ को स्वीकारता चलता है। 'साहित्य या कला मनुष्य की संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट या सार भाग है। केवल इतना ही नही, युग-युगान्तर से व्यष्टि और समष्टि, आत्म और परिवृत्ति में जो भौतिक प्रगतिमूलक क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संघर्ष अनवरत चलता आया है और चलता जायगा और जिसके परिणामस्वरूप ही मनुष्य का सामाजिक जीवन वर्द्धमान है और मनुष्य का पूर्ण आत्मविकास समाव्य बना है— इस महान् सघर्ष का मनुष्य ने किस प्रकार सामना किया है, कैसे निरन्तर घटित होने वाले असामंजस्य और वैपस्य का विरोध करके उसने नित नूतन जीवनप्रद संतुलन प्राप्त किया है और करता जा रहा है— इन समस्त मानवीय कृतित्व और तज्जनित मानव-मूल्यो के निर्माण का इतिहास, मनुष्य की समस्त विकासोन्मुखी सचेतन-अवचेतन प्रचेष्टा और परिणाम का विविध भाव, वर्ण, रूप, रस, गन्धमय अनुभव कला और साहित्य में अपनी विशिष्ट मूर्तिमत्ता के साथ प्रतिविम्बित है। निरपवाद रूप से व्यक्ति और समाज दोनो को भावी प्रगति के योग-क्षेम की दृष्टि से जैसे कला और साहित्य का नव-निर्माण प्रयोजनीय है वैसे ही उसके व्यापक मानव-मूल्यों का निर्धारण भी उतना ही प्रयोजनीय है।'[1]

श्री चौहान जिस प्रकार रसवाद, प्रभाववाद, मनोविज्ञानवाद की एकांगिताओ का उद्घाटन करते है, उसी प्रकार प्रगतिवाद की खामियो की ओर भी निर्देश करते है। वे प्रगतिवाद के नाम पर सामायिक आन्दोलन को लिपिबद्ध

१. साहित्य की परख : शिवदान सिंह चौहान।

करने वालो और कुत्सित समाजशास्त्रियों को प्रगतिवाद की संकीर्ण सीमा के रूप में स्वीकारते है। कुत्सित समाजशास्त्री लेखको की सबसे बड़ी विकृति यह है कि उनके पास अलग-अलग कालो और लेखकों को नापने के लिए अलग-अलग मानदण्ड है। ये कुत्सित समाजशास्त्री तेजी से बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियो के साथ-साथ अपने मानदण्डों को बदलते जाते है, परिणामस्वरूप कल का प्रगतिशील कवि आज प्रतिक्रियावादी हो जाता है और सामान्य राजनीतिक घटनाओ का वर्णन करने वाले सामान्य कवि प्रगतिशील कवि बन जाते है।

चौहान ने प्रगतिवाद के संदर्भ में साहित्य के अनेक मूल्यों की चर्चा तो की ही, साथ-ही-साथ इन्होने कविता, कहानी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, समीक्षा इत्यादि विधाओं की मार्मिक परीक्षा सामाजिक दृष्टिकोण से की। इनकी निष्पत्ति है कि ये सभी विधाएँ और भिन्न कालो मे अभिव्यक्त इनकी भाव-भूमियाँ अपने समाज-सम्बन्धों के सहज परिणाम है। प्रसिद्ध प्रगतिशील समीक्षक काडवेल इनके आदर्श रहे हैं। श्री चौहान ने सभी वादो की चर्चा की है, किन्तु उनका विश्लेपण समाजशास्त्रीय आधार पर किया है। जो वाद पतनोन्मुख समाज की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है वे अनुपयोगी है, अस्वास्थ्यकर है।

इन सैद्धान्तिक प्रश्नो पर गहराई से विचार करने के साथ-ही-साथ इन्होने कुछ कवियो और कृतियो का मूल्यांकन भो किया। यो तो 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' मे आधुनिक काल के प्राय. सभी कवियों और लेखको पर विचार किया है किन्तु पन्तजी और शुक्लजी के कृतित्व की उपलब्धियो पर जम कर विचार किया है और बडी ही चिन्तनपूर्ण पद्धति से उनको प्रवृत्तियो का विश्लेपण किया है। इस विश्लेपण में ये कुछ भ्रान्त स्थापनाएँ भी कर गये है। नवीनतम साहित्य की परख में भी श्री चौहान उतने तटस्थ नहीं रह पाये है जितनी इनसे आशा की जा सकती है। प्रगतिवाद के सतही स्वरूप का विरोध करते हुए भी आधुनिक प्रगतिशील गीतकार उन्ही को माना है जो सतही और अनुभूतियो में रूढ हो गये है।

डा० रामविलास शर्मा

डा० शर्मा बड़ी ही सूक्ष्म सूझ-बूझ, स्पष्ट, प्रगतिवादी, दृष्टिशील, निर्भीक ओजस्वी व्यक्तित्व वाले आलोचक है। शर्माजी प्रगतिशील आन्दोलन के प्रमुख कर्णधारो मे से एक रहे है। इसलिए शर्माजी ने प्रगतिशील साहित्य पर किये गये आक्षेपो के बड़ी ही अक्खड़ता से जवाब दिये है।

डा० शर्मा सामाजिक यथार्थ के बड़े कट्टर समर्थक है। ये आध्यात्मिक और उच्च सांस्कृतिक अर्थों का आभास देने वाले शब्दों के चमकीले मुलम्मो के नीचे छिपे हुए प्रतिक्रियावादी और अमानवीय धारणाओ को बड़ी निर्ममता से उद्घाटित करते है। बड़े से बडे आचार्य की असामाजिक धारणा को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर देते है। 'ब्रह्मानन्द सहोदर' निबंध इस दृष्टि से दर्शनीय है। इनकी स्थापना है कि ब्रह्मानन्द का सम्बन्ध विशेषतया शृंगार रस से है। शृंगार रस की सृष्टि करने वाले आचार्यों ने शृंगार रस का सम्बन्ध अलौकिक आनन्द से जोड कर उसके कुप्रभावो को छिपा दिया। उनका कहना था कि साहित्य में भावना और व्यंजना द्वारा एक अलौकिक प्रभाव उत्पन्न होता है जो चित्त पर कोई संस्कार नहीं छोड़ता परंतु गीता में कहा गया है कि विषय के चिन्तन से उसमे आसक्ति उत्पन्न होती है। इस महान् मनोवैज्ञानिक तथ्य को साहित्यशास्त्रियो ने उलट दिया।

रसों का सम्बन्ध अलौकिकता से नहीं है, वह तो व्यवहार-जगत् की चीज है क्योंकि साधारणीकरण के बाद भी दर्शकों और पाठको का अपना-अपना भाव-ग्रहण असाधारण रहता है। रसों का अनुभव एक-सा नहीं होता वरन् विषय की प्रकृति और उसका चिन्तन करने वाले व्यक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न हुआ करता है।

आचार्य शुक्ल ने पहले-पहल रस को अलौकिकता के काल्पनिक धरातल से उतार कर व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया किन्तु उनके रस-चिन्तन में गंभीरता होने के बावजूद यथार्थवादी दर्शन और मनोविज्ञान का अभाव था। मनोविज्ञान के स्थान पर आदर्शवाद प्रधान हो उठा था। शर्माजी ने अलौकिकता का खण्डन करते हुए भी इतना स्वीकार किया कि रस लोकोत्तर होता है।

शर्माजी ने उन आलोचकों को मुँहतोड उत्तर दिया जो कहते थे कि प्रगतिवाद अतीत की उपेक्षा करता है। शर्माजी ने स्पष्ट कहा कि प्रगतिवाद को अतीत से न घृणा है न अंधा मोह है। वह अतीत की उपलब्धियों को वहीं तक स्वीकारता है जहाँ तक वह वर्तमान के जीवन-संघर्ष को प्रेरित करे। शर्माजी ने अतीत साहित्य की उन मूलभूत विशेषताओं का उद्घाटन किया जिनसे वे साहित्य आज भी जीवित और प्रिय है।

प्रगतिवादी कसौटी पर विषय और शिल्प को कसते हुए इन्होंने स्पष्ट किया है कि कला में शक्ति केवल माजने से नहीं आती वरन् विषय की जीवन्तता से आती है। जनता के जीवन के चित्रण से साहित्य मे अधिकाधिक सौन्दर्य पैदा होता है। यथार्थवाद का स्वस्थ ओजस्वी रूप ही शर्माजी को प्रिय है और उसके

नाम पर रोमान्स, नग्न भोगविलास और व्यक्तिवादी अहं के विस्तृत वर्णन को ये हेय समझते है। ये प्रवृत्तियाँ पतनोन्मुख प्रतिक्रियावादी समाज से फूटती है।

व्यावहारिक समीक्षाओं में भी डा० शर्मा अपने समस्त प्रगतिशील मानदण्ड को दृढ़ता से पकड़े हुए हैं। नये और पुराने सारे साहित्यकारों के साहित्य की व्याख्या करते समय तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति और उसके प्रभाव की मीमांसा डा० शर्मा ने बड़ी सफाई से की है। जिन नये-पुराने साहित्यकारों ने अपने समय की जनता के जीवन को तत्कालीन विकसित मानवतावादी दृष्टिकोण से देखा और अंकित किया वे निश्चय ही क्रान्तिकारी कवि है। प्रगतिवाद वर्तमान काल की चेतना का आरोप प्राचीन साहित्य पर नहीं करना चाहता वरन् प्राचीन काल की सामाजिक चेतना की ही खोज उसमें करना चाहता है। इसीलिए डा० शर्मा ने तुलसी, भूषण, भारतेन्दु, गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला इत्यादि कवियों को क्रान्तिकारी कहा है। इन कवियों ने अपने युग की पुरानी शोषक वृत्तियों का खंडन किया तथा जनता का चित्रण कर मानवतावादी परंपरा को आगे बढ़ाया। 'प्रेमचन्द और उनका युग', 'प्रेमचन्द', 'भारतेन्दु युग', 'निराला', 'रामचन्द्र शुक्ल' विभिन्न लेखकों पर लिखी गयी इनकी स्वतन्त्र पुस्तकें है। इनके अतिरिक्त शरत चन्द्र चटर्जी, नजरुल इस्लाम, शेली और रवीन्द्र नाथ, स्व० बलभद्र दीक्षित पढ़ीस, भूषण का वीर रस, आइ० ए० रिचार्ड्स के आलोचना-सिद्धान्त, अनामिका और तुलसीदास, हिन्दी साहित्य पर तीन नये ग्रंथ, देशद्रोही, अहं का विस्फोट, सतरंगिनी बच्चनजी का नया प्रयोग, कुप्रिन और वेश्या-जीवन इत्यादि इनके फुटकर निबंध हैं जो 'संस्कृत और साहित्य' में संगृहीत है।

इनकी व्यावहारिक समीक्षा की एक बहुत बड़ी सीमा यह है कि प्रायः ये प्रतिक्रिया में निर्णय दिया करते है। यदि कोई साहित्यकार इनके मन के लायक मिल गया तो उसकी सारी अशक्तियों को नजरअंदाज कर उसकी विशेषताओं को उजागर कर देंगे, जैसे शुरू से ही ये यह योजना बना कर चले हों। ऐसा भी होता है कि यदि किसी लेखक पर प्रहार हो रहा हो तो डा० शर्मा उसे बचाने के लिए कूद पड़ेंगे और उस लेखक पर जितने भी आक्षेप किये गये हैं सबको तोड़-मरोड़ कर रख देंगे (कितने भी सही वे क्यों न हों) और उसके दोषों को बचा कर उसे महान सिद्ध कर देंगे। तुलसीदास, आचार्य शुक्ल और वृन्दावन वर्मा के सम्बन्ध में इनकी लिखी आलोचनाओं में यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ऐसे ये तीनों स्थापित साहित्यकार हैं उन्हें स्थापित क्या करना? किन्तु इनके दोषों या असंगतियों का उद्घाटन जिस किसी ने

किया है उस पर डा० शर्मा बरस पडे है। दूसरी ओर जिस सिद्धान्त य। साहित्यिक कृति से किसी कारण इन्हे अरुचि हो गयी तो उसकी खैर नहीं है। पूर्व पक्ष और गुण पक्ष को एकदम बचा कर उसके दोषो को बुरी तरह प्रदर्शित करेंगे या गुणो को दोष सिद्ध कर देंगे। शरत चन्द्र, सुमित्रानन्दन पत, राहुल, यशपाल इत्यादि इसी प्रकार डा० शर्मा के कोप-भाजन बने है।

कहा जा सकता है कि शर्माजी की दृष्टि, पकड़, समझ और अनुभूतिशीलता में आलोचक की पूरी-पूरी क्षमता है। जहाँ वे तटस्थ हो कर विचार करते है वहाँ उनका स्तर बडी उच्च कोटि का होता है, जहाँ आग्रही हो उठते है वहाँ निन्दा और स्तुति के दो अलग-अलग मार्ग पकड़ लेते है। फिर भी शर्माजी में नवीनता है, मौलिकता है; अभिव्यक्ति-प्रणाली बड़ी ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष और तीखी है। वह पाठकों को सीधे प्रभावित्त करती है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त

गुप्तजी प्रगतिशील आन्दोलन के जितने बडे समर्थक है उतने बड़े आलोचक नहीं है। आपने प्रगतिशील मानदंड को आधार बना कर जितनी समीक्षाएँ लिखो है उनका परिचयात्मक मूल्य अधिक है विश्लेषणात्मक कम। ऐतिहासिक या वर्तमान समाज की जो संश्लिष्ट वास्तविकताएँ है, उनके जो जटिल सम्बन्ध है उनकी गहरी छान-बीन में न पड़ कर इन्होंने मोटे तौर पर युगीन वास्तविकताओ को प्रस्तुत कर दिया है।

इसी प्रकार इनकी व्यावहारिक आलोचनाओं में व्याख्या की मार्मिकता, गहरी पकड़, सौन्दर्यबोध की सूक्ष्मता, भेदक गुणो के विश्लेषण का अभाव-सा है।

गुप्तजी की सबसे बड़ी विशेषता है इनकी उदारता। नये-नये लेखकों को प्रोत्साहित करना, उनके सम्बन्ध में लिखना इनकी प्रकृति है। किन्तु यही उदारता सदोष हो जाती है जब अच्छी प्रतिभाओ के स्थान पर उद्बोधन के तौर पर सपाट चीजे लिखने वालो को प्रश्रय देने लगती है। गुप्तजी ने ऐसा प्रायः किया है। इनकी उदारता ह्रासशील कवियो को भी कभी-कभी छूट दे देती है या यों कहिए, ह्रासशीलता और गतिशीलता में मौलिक भेद न स्थापित कर सबको एक में समेट लेती है। 'नया हिन्दी साहित्य' और 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा' इनकी दो समीक्षा-पुस्तकें है।

चतुर्थ उत्थान

(मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित आलोचना : सन् १९४० से अबतक)

जिस प्रकार मार्क्सवाद का प्रभाव प्रगतिवाद के नाम से साहित्य पर पड़ा उसी प्रकार फ्रायड और उनके अनुयायियो के मनोविश्लेपणवाद का भी असर साहित्य पर पड़ा। जैसे मार्क्सवाद ने साहित्य की मान्यताओ में कुछ परिवर्तन स्थापित किये उसी प्रकार मनोविश्लेपणवाद ने भी। इतना अवश्य है कि जिस प्रकार मार्क्सवाद साहित्य मे प्रगतिवाद के नाम से एक स्पष्ट वाद का रूप धारण कर बैठा और अपनी दृढ़ निश्चित मान्यताएँ निर्मित कर बैठा उस प्रकार मनोविश्लेपणवाद साहित्यिक वाद का स्वरूप न ले सका। फिर भी कुछ आलोचक ऐसे अवश्य है जो मनोविश्लेपण के सिद्धान्तों को मूल आधार बना कर साहित्य के परीक्षण के लिए तत्पर हुए, किन्तु उन पर अन्य मान्यताओं का भी प्रभाव है।

साहित्य की प्रेरणा

साहित्य-निर्माण की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त होती है, इस प्रश्न पर आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से काफी विचार किया है। फ्रायड ने भी अपने मनो-विज्ञान-निरूपण के सिलसिले में इस प्रश्न को लिया है। फ्रायड के विचार पुराने और नये सभी विचारकों से भिन्न है। मनोविश्लेपणवाद साहित्य को प्रेरणा की छानवीन के लिए एक नये मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की गहराई में उतरता है। फ्रायड के अनुसार मनुष्य का अवचेतन मन चेतन मन की अपेक्षा अधिक व्यापक और शक्तिशाली है। चेतना में प्रकट होने वाला अंश अव-चेतन से ही हो कर आता है, अवचेतन में ही वह जन्म लेता है। इस प्रकार अवचेतन चेतन के विषय का निर्धारक है।

फ्रायड का विचार है कि चेतना की सारी वस्तुएँ अवचेतन के परिशोधित तत्वो को अवश्य किसी-न-किसी मात्रा में धारण किये रहती है। यह सिद्धान्त मनुष्य के भावात्मक और वासनात्मक तत्वो पर ही नहीं, वरन् उसके विश्वासो और विचारो पर भी लागू होता है। मनुष्य की कला, रुचि और

धर्म के प्रति विश्वास अवचेतन से उसी प्रकार निर्मित होते है जैसे किसी नारी के प्रति उसकी रुचि या अपने चरित्र के प्रति विश्वास।

फ्रायड के सिद्धान्त के अनुसार मस्तिष्क के वास्तविक क्रम तर्क से नहीं, प्रवृत्ति और आवेग से सचालित होते है। मस्तिष्क स्पन्दनो, विचारो, बोध-ज्ञान और तार्किक क्रमों या कुछ निश्चित आध्यात्मिक सारो का समुच्चय नहीं है, वल्कि वह एक गहरा और उर्मिल सिन्धु है जिसके रहस्यमय तत्व उसके चेतन स्तर या तर्क में उपलब्ध नही होते वल्कि वे पूर्ण अवचेतन और प्रवृत्तियो की गहराई में ही प्राप्त होते है।

चेतन द्वारा दमित वासनाएँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए मार्ग ढूँढती है। कुछ वासनाएँ ऐसी होती है, जो दमित हो कर विनाशकारी रूप मे फूटती है और कुछ ऐसी होती है जो परिशोधित (Sublimated) हो कर फूटती है। कला, स्वप्न और धर्म का निर्माण दमित वासनाओ द्वारा अभिव्यक्ति का मार्ग खोजने के कारण ही होता है। इनकी सृष्टि अवचेतन में स्थित वासनाएँ और प्रवृत्तियाँ करती है न कि विवेक। इस प्रकार साहित्य या कला आदि के निर्माण के मूल में पूर्ववर्ती विचारको द्वारा प्रतिभा, विवेक या व्यक्तिगत और सामाजिक चेतनशीलता को जो स्थान दिया गया था वह फ्रायड के सिद्धान्त द्वारा गलत साबित किया गया। फ्रायड मानता है कि सामाजिक मनुष्य अपने अवचेतन में स्थित मूल वासनाओं को सह नहीं पाता, उन्हें ज्यो-का-त्यो स्वीकार नही कर पाता, अत: वह कला के द्वारा एक ऐसे संसार की सृष्टि करता है जहाँ वे असह्य नंगी वासनाएँ परिशोधित और ग्राह्य रूप में आती है। कलाकार सृष्टि सामाजिक दायित्व से प्रेरित हो कर नहीं वरन् अवचेतनस्थित वासनाओ से प्रेरित हो कर करता है। वास्तविकताओ और सत्यों का निर्धारण भी तर्कों से नहीं, सहज प्रवृत्तिजन्य इच्छाओं से होता है। वे तार्किक क्रियाएँ जो तर्कों द्वारा किसी परिणाम पर पहुँचने का प्रयास करती है—उस परिणाम तक जहाँ प्रवृत्तियाँ पहले पहँचो रहतो है—उन्हीं प्रवृत्तियो के ही परिशोधित रूप है।

मनोविश्लेषण के सिद्धान्त को और पूर्ण वनाने के लिए फ्रायड के दो शिष्यो—एडलर और युंग—ने इस विचार-परम्परा को चिंतन के नये मोड़ दिये। एडलर के अनुसार व्यक्ति संसार मे कमजोर, महत्वहीन और असहाय रूप में आता है। वह अपने निर्वाह के लिए अपने वड़ो का मुँह ताकता है। वह हीनता को क्षतिपूर्ति के लिए अपने द्वारा अपने वातावरण को प्रभावित करना चाहता है। किन्तु जव वह अपनी कोशिशों के वावजूद अपने वातावरण

से कोई उत्तर नहीं पाता तो अपने प्रयास में असफल हो कर कल्पना के अवास्तविक लोक में शरण लेता है, जहाँ वह उन लोगों पर रोब जमाता है जो लोग उस पर हँस चुके होते हैं।

वचपन की हीन भावनाओं के कारण मनुष्य-मनुष्य के जीवन के लक्ष्यों में भिन्नता होती है। वे दिखाई नही पडते। वचपन से ही अदृष्ट भाव से जो साँचे वनते रहते हैं उनमें जीवन के अनुभव स्थान पाते रहते हैं। यदि कोई अनुभूति इन साँचो में नहीं अँट पाती तो उसे हम स्वीकार नहीं कर पाते।

युंग ने कुछ और अलग हट कर जिजीविषा का सिद्धान्त स्थापित किया। इसकी दृष्टि में जीवेच्छा ही मूल प्रेरक शक्ति है। मनुष्य चाहता है कि वह सदैव अस्तित्वशील वना रहे। इसी के लिए वह अनेक प्रयत्न करता है। कला भी उन्ही प्रयत्नो में से एक है। युग अवचेतन के सिद्धान्त को मानता हुआ भी व्यक्तिगत अवचेतन और सामूहिक या जातीय अवचेतन में अन्तर स्थापित करता है।

संक्षेप में, मनोविश्लेषणवाद ने साहित्य को निम्नलिखित प्रकार से प्रभावित किया है —

१. साहित्य-निर्माण की प्रेरणा मनुष्य की चेतना से नही, अवचेतन से प्राप्त होती है।

२ साहित्य सामाजिक होने की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक है। साहित्य में जो कुछ सामाजिक तत्व दिखाई पड़ते है वे साहित्यकार के सामाजिक दायित्व के अनुभव के परिणाम नही है वल्कि वे सामाजिक दवाव के परिणाम होते हैं।

३ साहित्य में बौद्धिकता नहीं वरन् प्रवृत्तियाँ काम करती है। प्रवृत्तियाँ ही हमें सत्य के पास ले जाती है।

४. पुरानी नैतिकताएँ व्यर्थ और आरोपित है। पाप-पुण्य, भले-बुरे, छोटे-वड़े के वँधे-वँधाये पैमाने झूठे है; ये मनुष्य का विनाश करते है क्योकि ये मनुष्य के अवचेतन में स्थित वेगवान वासनाओं की सहज सुन्दर तुष्टि में नहीं, उनके दमन में विश्वास रखते है। यह दमन मनुष्य के विकास को वाधित करता है अतः नैतिकता के झूठे परदे के नीचे मनुष्य का ह्रास होता है। फ्रायड की इस विचारण से पाप और पुण्य की वँधी-वँधायी दीवारें ढहने लगी। मनुष्य परिस्थितिवश अपनी

सहज प्रवृत्तियो से प्रेरित हो कर कार्य करता है। उन कार्यों की कोई नैतिक जिम्मेदारी उस पर कैसे हो सकती है। इसका परिणाम यह हुआ कि अविस्मरणीय, शक्तिशाली चरित्रों के स्थान पर अपनी वासनाओ से उलझे हुए उद्देश्यहीन पात्रो की सृष्टि होने लगी।

५. अवचेतन की दमित वासनाओं पर परिस्थितियों का असर पड़ता है किन्तु वह ऊपरी होता है। यह प्रभाव मूल प्रवृत्तियों को थोड़ा इधर-उधर कर सकता है, उनकी चिरंतनता को खण्डित नही कर सकता।

मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित आलोचकों मे श्री इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और डा० नगेन्द्र मुख्य है।

श्री इलाचन्द्र जोशी

जोशीजी मनोविश्लेषणवाद के आलोक मे सृजन और मूल्यांकन दोनो करते है। इन्होने इस मानदण्ड पर प्राचीन और नवीन कृतियो का मूल्यांकन कर उनकी श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का निर्णय किया है। 'कला और नीति', 'प्रगति या दुर्गति', 'जनसाधारण के साहित्य का आदर्श', 'साहित्य' कला और विरह', 'साहित्य मे दुखवाद', 'साहित्य सम्बन्धी कतिपय तथ्य', 'युग साहित्य', 'आधुनिक उपन्यास का दृष्टिकोण' इत्यादि प्रश्नो पर जोशीजी ने विचार किया है। इन निबन्धों में इनका आलोचना-सिद्धान्त स्पष्ट हो उठा है। इनके सिद्धान्तो में सर्वत्र एकरूपता नहीं लक्षित होती। 'कला और नीति' की विवेचना करते हुए जोशीजी ने आनन्द को कला का मूल उत्स माना है। आनन्द क्यो मिलता है, इसका कोई कारण नही। वह केवल अनुभव किया जा सकता है, उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। जोशीजी की दृष्टि में नीति का कोई विशेष सम्बन्ध कला से नही है क्योंकि नीति का क्षेत्र चेतन मन है। चूँकि चेतन मन विना आलोचना के आनन्द के सहज भाव को स्वीकार नहीं करता इसलिए साहित्य में सहज आनन्द का सम्बन्ध चेतन मन और उसकी नैतिकता से नही है। जोशीजी ने अपना समर्थन विश्व के बड़े-बडे कवियो की कविताओ के उद्धरणो से किया है।

'साहित्य, कला और विरह' में आपने विश्वव्यापी विरह को कला के मूल में माना। यह विरह भी और कुछ नहीं, अदम्य आत्म-प्रकाश की प्रवृत्ति के कारण स्फुरित होने वाला भाव है। यह विरह आनन्द की ही सृष्टि है, उसी आनन्द की जिसे लेखक ने कला और नीति के प्रसंग मे शुद्ध, निरपेक्ष, प्रयोजनातीत माना है। अनन्त की वेदना की अनुभूति ने आनन्द का अनुभव करना ही साहित्य का मूल उद्देश्य है।

किन्तु जाने-अनजाने जोशीजी अनेक स्थानों पर साहित्य में आदर्श या नीति का समर्थन करते हुए जान पड़ते है। छायावादी काव्य के सौन्दर्य के बारे में लिखते हुए जोशीजी लिखते हैं कि छायावादी कवियों का अन्तर यदि अपनी प्रियतमा के विरह से आकुल है या प्रकृति के अनन्त रूपो के प्रति आकृष्ट हो कर उन्हे वाणी देने के लिए आकुल है तो रहा करे, संसार को इससे क्या लेना-देना? ये कवि संसार से क्यों आशा रखते है कि वह इनके निपट स्वार्थमय उद्गारो से पुलकित हो कर इन्हें अपना मोक्षदाता या कल्याणकर्ता मान ले। लगता है, जोशीजी यहाँ आनन्द पक्ष को भूल कर कल्याण पर उतर आये हैं। कामायनी के सम्बन्ध मे विचार करते हुए आपने लिखा है—'सारे काव्य को आदि से अन्त तक मननपूर्वक पढ़ जाने पर यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि सारी रचना एक महान् आदर्श के मूल भास से ओतप्रोत है।'

अपने एक दूसरे निबन्ध 'साहित्य सम्बन्धी कतिपय तथ्य' में ये आधुनिक युग को आदर्शवाद और यथार्थवाद का मिश्रित युग मानते है। जोशीजी ने यहाँ आदर्श को साहित्य का अनिवार्य तथ्य स्वीकार किया है और कालिदास की कृतियो, रीतिकालीन कवियो की शृंगारिक रचनाओं, 'गीत गोविन्द' की पदावलियो तथा बँगला के कुछ ग्रन्थों तथा छायावादी कविताओ को आदर्शवाद की कसौटी पर कसते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि कृति में कला पक्ष की प्रौढ़ता के साथ-साथ उसमें एक महान सन्देश भी प्रतिध्वनित हो। अतः लेखक की दृष्टि में कालिदास की कृतियों को छोड़ कर उपर्युक्त शेष कृतियाँ अश्रेष्ठ मालूम पड़ी है। अपने दूसरे ग्रन्थ 'विवेचन' में लेखक ने इसी विचार को प्रधानता दी है। फिर भी मनोविश्लेपणवाद का प्रभाव रह-रह कर उभर उठा है।

मनुष्य के अन्तर और वाह्य का परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह भी एक प्रमुख प्रश्न है। कुछ लोग मानते है कि मार्क्सवाद केवल वाह्य वास्तविकता का विवेचन करता है, वह मनुष्य के आर्थिक योग-क्षेम तक अपने को सीमित रखता है। वह मानवीय वृत्तियो का विश्लेपण सामूहिक रूप से करता है व्यक्ति के अहं तथा उसकी अलग-अलग समस्याओं पर ध्यान नही देता। इस प्रकार व्यक्ति का व्यक्तित्व इस विश्लेपण में छूट जाता है। दूसरी ओर मनोविश्लेपण-वाद है जो व्यक्ति-मन की दमित वासनाओ और उनसे उत्पन्न होने वाली मानसिक जटिलताओ को ही यथार्थ मानता है। जोशीजी इन दोनो मान्यताओ के सम्यक् समन्वय में ही सत्य का स्वरूप देखते है। उनकी दृष्टि में मार्क्स और फ्रायड दोनों एक ही सत्य के दो छोरों के प्रतिनिधि है। मार्क्स ने वाह्य

जगत की कालानुक्रमिक प्रगतिशीलता का पाठ पढ़ाया है और सामूहिक जीवन की वास्तविकता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करके उसके सुचारु सगठन का उपाय सुझाया है। दूसरी ओर फ्रायड ने अन्तर्जगत के गहन सत्य की ओर हमारी आँखें खींची है। फ्रायड मानव-मन के सघन अन्धकारमय अंतर्लोक में प्रकाश डाल कर बाह्य जगत के साथ उसकी संगति का स्वास्थ्यकर उपाय हमें सुझाता है। इसलिए एक महान् सत्य के दो चरम पहलुओं को समान भाव से अपनाने की आवश्यकता है। इस प्रकार जोशीजी एक मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की स्थापना करते हैं जिसका बाह्य पक्ष मार्क्सवाद है और अन्तर्पक्ष मनोविश्लेषणवाद।

प्रश्न उठता है कि क्या इन दो जीवन-दृष्टियो का समन्वय हो सकता है और हो सकता है तो किस आधार पर। दोनो अपने-अपने को पूर्ण जीवन-दर्शन मानते है। क्या मार्क्सवाद सचमुच अन्तरपक्ष से असंबद्ध है? इस प्रश्न का उत्तर जोशीजी सही रूप में प्रस्तुत करते हुए नहीं जान पडते। घूम-फिर कर फ्रायड के सिद्धान्त की ओर झुक जाते है। एक ओर उन्होने हिन्दी की सतही प्रगतिशील रचनाओ के आधार पर मार्क्सवाद को भला-बुरा कहा है, दूसरी ओर के फ्रायड के सिद्धान्तो को अत्यंत मनोवैज्ञानिक सत्य मानते हुए उसे मंगलमय कहा है। फिर जोशीजी किन आधारो पर दोनों का समन्वय चाहते है?

जोशीजी युगीन परिस्थितियों की बात अवश्य उठाते है, उसका प्रभाव भी रचना पर मानते है किन्तु उन युगीन परिस्थितियो के ऐतिहासिक विकास की वैज्ञानिक व्याख्या करने के स्थान पर उन्हें पूर्ववर्ती काल की परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मान लेते है। जोशीजी के सिद्धान्तों का असंतुलन उनकी व्यावहारिक समीक्षाओ में भी दिखाई पड़ता है। जोशीजी संतुलित अवस्था में रचना के अनुभूतिमूलक सौन्दर्य और उसके मानवीय संकेतो की मार्मिक खोजबीन करते है किन्तु अनेक स्थलो पर वे उबाल में आ कर निर्मम प्रहार करने लगते है। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रेमचन्द और कहीं-कहीं शरत चन्द्र इनकी भावुकतावादी अवैज्ञानिक धारणाओ के शिकार हुए है। कहा जा सकता है कि व्याख्यात्मक आलोचना में जो गंभीरता, तटस्थता और सहृदयता होनी चाहिए, वह आप में नहीं है। आप जगह-जगह मसीहा बनने की कोशिश करते है और डके की चोट यह घोषणा करने लगते है कि अज्ञानी लोग अभी मेरी बात नहीं मानते, समझ आने पर भविष्य में स्वीकार करेंगे।

डा० नगेन्द्र

डा० नगेन्द्र की समीक्षा-पद्धति पर कई विचार-धाराओं के प्रभाव लक्षित होते है। एक ओर तो वे मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित हो कर कविता या कला के निर्माण के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा को स्वीकारते हैं, दूसरी ओर उपयोगितावाद को भी महत्व देते है यद्यपि ये उसका समावेश आत्माभिव्यक्ति मे ही कर देते है। तीसरी ओर छायावाद के काव्य-लालित्य और स्वच्छन्द वृत्ति से प्रभावित हो कर प्रभाववादी समीक्षा का स्पर्श अपनी आलोचनाओ मे देते चलते है। चौथी ओर समस्त साहित्याचार्यों के विचारो को निधि ग्रहण कर उनके आधार पर शास्त्रीय ढंग की विचारणा प्रस्तुत करते है।

डा० नगेन्द्र ने साहित्य की प्रेरणा के सम्बन्ध में अनेक आलोचको के विचारों के आलोक मे जो सिद्धान्त स्थापित किये है उन पर फ्रायड के अंतश्चेतनावाद का प्रभाव स्पष्ट है। (१) काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है। (२) यह प्रेरणा व्यक्ति के अतरंग अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से हो उद्भूत होती है, कहीं बाहर से जान-बूझ कर प्राप्त नही की जा सकती। (३) हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियो से होता है उनमें कामवृत्ति का प्राधान्य है। अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यत. काममय है और चूँकि ललित साहित्य तो मूलत रसात्मक होता है, अत उसकी प्रेरणा में कामवृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध ही है।

डा० नगेन्द्र साहित्य को मूलत वैयक्तिक चेतना मानते है। यद्यपि डा० साहब वैयक्तिक चेतना और सामाजिक चेतना दोनो को अन्योन्याश्रित मानते हैं किन्तु तुलनात्मक अध्ययन के अवसर पर वे व्यक्ति और उसकी अनुभूति को ऊँचा दरजा देते है।

अत. वे साहित्यकार के आत्म की महत्ता और उसको पूर्ण अभिव्यक्ति को ही मूल्यांकन को कसौटी बनाना चाहते है। 'साहित्य का मूल्य साहित्यकार के आत्म को महत्ता और अभिव्यक्ति को सम्पूर्णता एवं सचाई के अनुपात से ही आँकना चाहिए। अन्य मान एकागी है, धोखा दे जाते है।'

आत्माभिव्यक्ति से ही लेखक और पाठक दोनो के लिए रस की सृष्टि होती है। नगेन्द्रजी का व्यक्तिवाद छायावाद और फ्रायडवाद से प्रभावित है।

नगेन्द्रजी मानते है कि साहित्यकार समाज के अन्य लोगो से अधिक प्रतिभासम्पन्न प्राणी है। ऊँची प्रतिभा और शक्ति से ही ऊँचे साहित्य की

सृष्टि होती है। किन्तु प्रश्न यह है कि प्रतिभा है क्या चीज। क्या प्रतिभा निरी वैयक्तिक चीज है? आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रतिभा को निरी वैयक्तिक वस्तु नही मानते। प्रतिभाओ को समाज की सामूहिक प्रगति पैदा करती है। कुछ लोग ऐसे होते है जो समाज की समस्त विकसित चेतना को ग्रहण कर लेते है; वे ही प्रतिभावान होते है। अत प्रतिभा का सम्बन्ध समाज से भी है। इसलिए भौतिक या सामाजिक वस्तुस्थितियों की साहित्य मे उपेक्षा अवास्तविक है।

कविता की महत्ता की कसौटी क्या है? डा० साहब मानते है कि कलाकृति की आनन्द देने की शक्ति ही उसकी महत्ता की विधायक है। किन्तु इस महत्ता की मात्रा का निर्णय कौन करे, कैसे करे? डा० नगेन्द्र का मत है कि कला के विशेषज्ञ इसका निर्णय करे—साहित्य अधिकारियों की चीज है, जन-सामान्य को नहीं। कैसे करें? इसका उत्तर देते हुए आप कहते है कि पहले यह देखना होता है किसी कृति का रचयिता उस कृति में अपने व्यक्तित्व को कहाँ तक अनूदित कर सका है। फिर यह देखना चाहिए कि उसका आत्म कितना प्राणवान है।

साहित्य का लक्ष्य आत्माभिव्यक्ति है, यह विचार फ्रायड से प्रभावित है। 'मै कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति को प्रेरणा मानता हूँ और चूँकि आत्मनिर्माण में कामवृत्ति का और उसकी अतृप्तियो का योग है इसलिए इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्व मानना भी अनिवार्य समझता हूँ।' निश्चय ही यह मान्यता फ्रायड के सिद्धान्त की तरह एकागी है।

डा० साहब साहित्य में सामाजिक तत्त्वो की स्वीकृति की भी बात उठाते हैं किन्तु ऐसा लगता है कि वे सामाजिक प्रभावो को ऊपर, क्षणस्थायी और गौण मानते है। वे साहित्य पर सामाजिक प्रभाव की बात तो मानते हैं किन्तु लगता है कि वे साहित्य को ऊपरी और भीतरी दो तत्वो में स्पष्ट रूप से बाँट देते है। ऊपरी तत्व का सम्बन्ध सामाजिकता से है और भीतरी मानवीय चिरन्तन तत्व का सम्बन्ध व्यक्ति की आदिम वृत्तियों से है। ऐसा भेद भ्रामक है। अन्दर और बाह्य एक-दूसरे में घुलते-मिलते आये है।

जो भी हो साहित्य-सिद्धान्तों पर बहस करते हुए भिन्न-भिन्न विचारक भिन्न-भिन्न निष्कर्षों पर पहुँचते है। देखना यह होता है कि किस विचारक ने कितने सुपुष्ट आधारों पर और कितनी तार्किक पद्धति से अपनी स्थापनाएँ की है। डा० नगेन्द्र ने अपनी सारी स्थापनाओं को शास्त्रीय पृष्ठभूमि दी है और साहित्य-विवेचन के साथ-साथ नवीन मनोविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र

से उन्हें पुष्ट किया है। हाँ, समाजशास्त्र का उपयोग प्राय. नहीं किया गया है। शास्त्रीय, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक विचारणा के आलोक में पुराने विषय भी नवीन छवि से जगमगा उठे है। शास्त्रीयता का आधार लेने से डा० नगेन्द्र के विचारो में सफाई और सुलझन दिखाई पडती है।

सिद्धान्तो की स्थापनाएँ करने वाली उनकी एक ही पुस्तक 'विचार और अनुभूति' प्रकाश में आयी है, किन्तु व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उनकी कई पुस्तके देखी जा सकती है। 'रीतिकाल और देव', 'देव और उनकी कविता', 'सुमित्रानन्दन पन्त', 'साकेत एक अध्ययन', 'आधुनिक हिन्दी नाटक' इनकी प्रमुख पुस्तके है। डा० नगेन्द्र भिन्न-भिन्न शैलियो में लिखे गये अपने इन निबन्धो में अधिक सहानुभूतिशील और साहित्यिक बने रहने की कोशिश करते है। वे एक कुशल समीक्षक की भाँति कृतियो की सही व्याख्या करते है, उनके मर्मों का उद्घाटन करते है किन्तु निष्कर्ष देते समय अपना दृष्टिकोण औरों पर आरोपित कर देना चाहते है। इसीलिए वे व्यक्तिवादी मनोविश्लेषणवादी कृतियों में अधिक गहराई पा लेते है।

सर्वांगीणता उनकी प्राय: सभी कृतियो मे दर्शनीय है किन्तु वैचारिक गम्भीरता जैसी 'देव और उनकी कविता' में है, अन्यत्र नहीं। 'सुमित्रानन्दन पन्त' और 'साकेत एक अध्ययन' में वैचारिक गम्भीरता का स्थान अध्यापक-सुलभ सरल विस्तार और खतियाने की वृत्ति ने ले ली है किन्तु इनके छोटे-छोटे स्वतन्त्र निबन्ध इस दोप से मुक्त है।

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

अज्ञेयजी मुख्यतया कृतिकार है और इसलिए आलोचना के पीछे कम पड़े है, किन्तु जितना लिखा है उसमें उनके गम्भीर चिन्तन-मनन का दर्शन होता है।

अज्ञेयजी पर फ्रायड की अपेक्षा एडलर के सिद्धान्तों का असर दिखाई पड़ता है। उनकी दृष्टि में 'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।'[1] इस स्थापना में एडलर की हीनता की अनुभूति और उसकी कला द्वारा क्षतिपूर्ति वाला सिद्धान्त ध्वनित है। अज्ञेय जी ने आदिम और नवीन युगो से उदाहरण प्रस्तुत कर इस मनोवैज्ञानिक सत्य को कला की शाश्वत प्रेरणा मानी है।

---

१. त्रिशंकु : अज्ञेय, पृ० २३।

अज्ञेयजी समाज और अपर्याप्तता के सभी सम्भव रूपों की व्याख्या करते है। वे कहते है कि अपर्याप्तता कोई रूढ़ स्थिर चीज नहीं है, भिन्न-भिन्न युगो में उसका स्वरूप बदला करता है। किन्तु इतना सत्य है कि प्रत्येक कला के मूल में एक अपूर्याप्तता की भावना काम करती है।

'कला का उद्देश्य क्या है?' यह एक चिरंतन प्रश्न है। अज्ञेयजी ने भी यह प्रश्न उठाया है। 'अपनी सृष्टि के प्रति कलाकार मे एक दायित्व-भाव रहता है—अपनी चेतना के गूढ़तम स्वर में वह स्वयं अपना आलोचक बन कर जाँचता रहता है कि जो उसके विद्रोह का फल है, जो समाज को उसकी देन है वह क्या सचमुच इतना आत्यतिक मूल्य रखती है जो उसे प्रमाणित कर सके, सिद्धि दे सके। इस प्रकार कला-वस्तु-रचना का एक नैतिक मूल्यांकन निरन्तर होता रहता है। इस क्रिया को हम यों भी कह सकते है कि सच्ची कला कभी भी अनैतिक नही हो सकती। और यो भी कह सकते है प्रत्येक शुद्ध कला-चेष्टा मे अनिवार्य रूप से एक नैतिक उद्देश्य रहता है अथवा सच्ची कला-वस्तु अन्तत' एक नैतिक मान्यता (इथिकल वैल्यू) पर आश्रित है, एक नैतिक मूल्य रखती है। हाँ, यह ध्यान दिला देना आवश्यक होगा कि हम श्रेष्ठ नीति (इथिक) की बात कह रहे है निरी नैतिकता (मारैलिटी) की नही।'[1]

सच्ची कला का सम्बन्ध एक ओर श्रेष्ठ नीति से होता है, दूसरी ओर कलाकार के स्वांतः सुख से भी होता है। कला एक प्रकार का आत्मदान है जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को सिद्ध प्रमाणित करना चाहता है। अहं को छोटा करके व्यक्ति सम्पूर्ण नहीं रह सकता, शायद जी भी नही सकता। इस प्रकार कलाकार का आत्मदान केवल एक नैतिक मान्यता के लिए ही नही होता, सच्चे अर्थ मे स्वांत.सुखाय भी होता है। इस प्रकार अज्ञेयजी की मान्यताएँ अधिक व्यापक भूमि पर आधारित है। उनकी दृष्टि में सच्चा कलाकार वही है जिसकी विशाल आत्मा समाज के अन्तर्गत समूचे मौलिक जगत को खींच सकती है। अज्ञेयजी साहित्य की व्यक्तिगत-सामाजिक दोनो चेतनाओं को उचित महत्त्व देते है। समाज द्वारा स्वीकृत मान्यताओं पर ही सर्वोत्तम कृतियो की बुनियाद कायम है। प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी रुचियो के प्रतिकूल दिखाई पड़ने वाले सामाजिक परिवृत्त को बदलना चाहता है किन्तु यदि कलाकार समाज से स्वीकृति पाना चाहता है तो स्वीकृति न मिलने पर उसकी माँग कुण्ठित हो सकती है और इस कुण्ठा

---

१. त्रिशंकु : अज्ञेय, पृ० २८।

से पैदा होने वाला असंतोष रचनात्मक नहीं हो सकता। अज्ञेयजी साहित्य में युयुत्सा या जीवन का भाव श्रेयस्कर मानते है।

व्यक्ति समाज को कहाँ तक स्वीकार करे? कहाँ तक यह स्वीकृति उसके लिए स्वभाविक और अनिवार्य है? अज्ञेयजी इस पर विचार करते हुए कहते है कि व्यक्ति अपने को समाज के अनुकूल गढ़ता है, वह अपना बहुत कुछ समाज को दे कर ही महान् बनता है। लेकिन व्यक्ति की अपनी मौलिकता भी होती है। जब उसकी मौलिकता का मर्म आहत होता है तब वह विद्रोह या चीत्कार कर उठता है कि तुम कहते हो कि मै गलती पर हूँ। कौन हो तुम कहने वाले?

टी० एस० इलियट के विचारो का समर्थन करते हुए अज्ञेयजी ने अतीत और वर्तमान का अपरिहार्य सम्बन्ध माना है। 'प्रत्येक नयी रचना के आते ही पूर्ववर्ती परम्परा के साथ उसके सम्बन्ध, उनके परस्पर अनुपात और सापेक्ष मूल्य अथवा महत्व का फिर से अंकन हो जाता है तथा 'पुरातन' और 'नूतन' रूढ़ और मौलिक परम्परा और प्रतिभा में एक तारतम्य स्थापित हो जाता है। आधुनिक साहित्यकार को मानना पडता है कि वह चाहे या न चाहे उसे अतीत द्वारा, रूढ़ि द्वारा उतना ही नियमित होना पड़ता है जितना वह स्वयं उसे परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित करता है।'

कला के सम्बन्ध में टी० एस० इलियट के ही विचारों के आलोक में अज्ञेयजी ने एक और प्रश्न उठाया है— 'कविता भावो का उन्मोचन नहीं, भावो से मुक्ति है; वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नही, व्यक्तित्व से मोक्ष है।' अतः जितनी हो तटस्थता से कवि का स्रष्टा मन विभिन्न अनुभूतियो पर असर डाल कर उनके मिश्रण और संगति का माध्यम बनता है, कला उतनी ही उच्चकोटि की होती है।

इन मान्यताओ के आलोक में अज्ञेयजी की समीक्षा-शक्ति की उपलब्धियों और सीमाओं को परखा जा सकता है। इनके पास गहरी संवेदनशीलता है, सूक्ष्म दृष्टि है, जाग्रत सौन्दर्यबोध है, किसी मौलिक प्रश्न को उठाने की शक्ति है या प्राचीन प्रश्नो को मौलिक व्याख्या देने की क्षमता है किन्तु इनका यथार्थवादी दृष्टिकोण सीमित है अर्थात ये उभरती हुई सामाजिक चेतना और नया उत्साह ले कर आने वाले नव-निर्माणशील वर्तमान और भविष्य को नहीं देख सके और एक अत्यन्त दकियानूसी ढंग का फतवा दे डाला कि दुख-सुख सबको है, गरीबो ने ही दुख का ठीका नहीं लिया है। अमीरो और गरीबो के दुख-सुख का विश्लेषण और उनके मौलिक भेदो की व्याख्या भी आज के आलोचक को करनी होगी।

पंचम उत्थान

(स्वच्छंद समीक्षा)

आजकल कुछ आलोचक ऐसे भी है जो प्रचलित वादो का सहरा न ले कर स्वच्छन्द भाव से समीक्षाएँ लिखते है। स्वच्छन्द भाव का अर्थ है—किसी वाद का आग्रह स्वीकारे विना खुली दृष्टि, खुले हृदय, उन्मुक्त विवेक और अध्ययन के आधार पर स्वतत्र मानदंड निर्धारित कर मूल्याकन करना। ये परंपरा और वर्तमान की चेतनाओ से समृद्ध है, साहित्य में व्यक्तित्व और सामाजिकता के पारस्परिक महत्व को पहचानते है। वादो को पहचान कर उनमें से ग्राह्य चीजे ले लेते है। इस प्रकार वे एक ऐसे मानदण्ड का निर्माण करते है जो किसी प्रकार के आग्रह से वोझिल नहीं होता।

स्वच्छन्द मानदण्ड तैयार करना ओर उसके आधार पर मूल्याकन करना प्रतिभावानो के हित में तो ठीक है किन्तु सामान्य आलोचको और विवेक-हीनो के लिए काफी खतरनाक भी है। वादो मे वड़े-वडे मनीषियो द्वारा आविष्कृत जीवन-दृष्टि होती है, उस जीवन-दृष्टि से युगीन सत्य दिखाई पड़ता है। जो व्यक्ति जाग्रत विवेक का होता है वह वादो द्वारा स्वीकृत जीवन-दृष्टियो से न वँध कर भी अपने विवेक से उन सत्यो को पा लेना चाहता है जिन्हें ये वाद पाना चाहते है। लाभ में वह वादों की सीमाओं से वचा रहता है। किन्तु जो जाग्रत विवेक वाले नही होते उनके पास तो न अपनी दष्टि होती है न वादों द्वारा प्रतिष्ठित जीवन-दर्शन। ये निरुद्देश्य-यात्री की तरह किसी भी दिशा में भटक सकते हैं और कभी कोई भी वात कह सकते है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कई आलोचक प्रतिभाशाली होते है, सुपठित भी होते है, किन्तु वे कोई जीवन-दर्शन नहीं वना पाते; जैसे—नलिन विलोचन शर्मा और प्रभाकर माचवे।

इन स्वच्छन्द समीक्षको में सवसे महत्वपूर्ण नाम है डा० देवराज का। महत्ता को दृष्टि से दूसरी कोटि मे आते है श्री नलिनजी और डा० माचवे। तीसरी श्रेणी में कई नाम लिये जा सकते हैं। ये आलोचक प्रचलित धारणाओ को आधार वना कर साहित्य-सिद्धान्तो की व्याख्या करते है और मूल्याकन भी परिपाटी-आश्रित समझ, सौन्दर्य वोध और व्याख्या-पद्धति से करते है।

साहित्य-सिद्धान्तो के क्षेत्र में तो इनकी कुछ देन नहीं दिखाई पडती, पुस्तकों को साहित्यिक व्याख्या में अवश्य इनकी महत्ता स्वीकारनी पड़ेगी। अमुक-अमुक कृतियो को लेकर भिन्न-भिन्न शीर्षकों में बाँट कर उनका सर्वांगीण विश्लेषण करना भी अपने-आप में एक महत्व की चीज है। नवीनतम कृतियों की नवीनतम चेतनाओ और सौन्दर्य-उन्मेष का सूक्ष्म विश्लेषण तो ये नहीं कर पाते किन्तु स्थापित पुस्तकों की व्याख्या ये स्थापित सिद्धान्तो या तत्वों की दृष्टि से अवश्य अच्छी तरह से कर लेते है। इनमें भी दो तरह के आलोचक है। एक वे है जो गंभीर है, अध्ययनशील है, शक्तिसम्पन्न है। दूसरे वे है जो शौकिया आलोचक बने हुए है और यहाँ का पत्थर वहाँ का रोडा बटोर कर भानुमती का कुनबा जोड़ते है। एक अध्ययन, एक समीक्षा आदि लिखने वाले ये ही लोग है, इनकी चर्चा करना भी व्यर्थ है। इस कोटि के गभीर आलोचको में डा० केसरी नारायण शुक्ल, डा० सत्येन्द्र, डा० कृष्णशंकर शुक्ल और विश्वंभर 'मानव' का नाम लिया जा सकता है।

डा० देवराज

डा० देवराज ने अपने ऊपर आचार्य शुक्ल का प्रभाव स्वीकार किया है। डा० देवराज को समीक्षा को परीक्षा करने पर उक्त कथन की चरितार्थता इन कारणो से सिद्ध को जा सकती है शुक्लजो को हो तरह देवराज ने लोक-जीवन को काव्य का विषय बनाने का आग्रह किया है। शुक्लजी की भाँति उनमे अपने पक्ष-स्थापन की निर्भीकता है, शुक्लजी की ही भाँति वे विषय-पक्ष पर बल देते हैं, कल्पनावादी कविताओं को दूसरा-तीसरा स्थान देते है, छायावादी कविताओं या अन्य व्यक्तिवादी कविताओ को उच्च कोटि की वस्तु नही मानते हैं, प्रबन्ध-काव्यो को मुक्तको से श्रेष्ठ मानते है और उन्ही की भाँति कृति के भीतर घुसने की चेष्टा करते है।

प्रभाव प्रभाव है, अनुकरण नहीं। डा० देवराज ने इन सारे प्रश्नों को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है, अपने ढंग से उनका विश्लेषण और मूल्याकन पेश किया है, अत॰ डा० देवराज सामाजिक भावधारा के पोषक आलोचको के समर्थक हो कर भी अपने-आप में बड़े मौलिक है। इनकी दृष्टि नयी है, पूर्व और पश्चिम की साहित्यिक परम्पराओ से ये पूर्ण परिचित है, दर्शन के अध्येता है, साहित्य और समाज की विकासशीलता में विश्वास रखने वाले है और साहित्यिक-संस्कारशीलता से अनुप्राणित है। 'साहित्य चिन्ता' और 'आधुनिक समीक्षा' इनके समीक्षात्मक निबंधो के संग्रह है।

'साहित्य चिन्ता' में 'कल्पना और वास्तविकता' और 'साहित्य और संस्कृति' ऐसे निबंध है जो डा० देवराज के कुछ बुनियादी विचारो को स्पष्ट करते है। डा० साहब संस्कृति की प्रतिष्ठा व्यापक मानव-समाज की पृष्ठभूमि पर करते हैं। मानव को संस्कृत होने के लिए आत्म-प्रसार करना आवश्यक है किन्तु यह आत्म-प्रसार व्यापक जगत और जीवन, अतीत और वर्तमान की मार्मिक छवियो और अनुभूतियो को ग्रहण कर सकने पर ही सम्भव होता है। डा० साहब संस्कृति के अन्तर्गत उन सभी प्रयत्नो को लेते है जो मानव-जाति के सामान्य चेतनामूलक जीवन को विकसित कर सके है। साहित्य भी इन्ही प्रयत्नो में से एक है, अत. यह स्पष्ट है कि साहित्य सामाजिक चेतना का प्रयत्न है न कि अतिवैयक्तिक चेतना का। इसीलिए साहित्य का स्वरूप मानव-जीवन के अनुकूल परिवर्तित होता आया है। डा० साहब की यह मान्यता इस तथ्य का तो खंडन करती ही है कि साहित्य का विषय मानवी आवेग और वेदनाएँ है, आत्मनिष्ठ तत्त्व है, वाह्य तत्त्व नही साथ ही रिचार्ड्स की इस धारणा को भी खंडित करती है कि साहित्य में प्रयुक्त शब्द किसी वस्तुगत यथार्थ का संकेत नही करते। वे केवल आवेग जगाने का काम करते है।

डा० देवराज साहित्य में जीवन की समग्रता देखने के कारण नाटकों, महाकाव्यो तथा उपन्यासों को ही श्रेष्ठ मानते है। निश्चय ही वे यहाँ शुक्लजी से प्रभावित है। वे छायावादी काव्य या रोमांटिक काव्य मे इस समग्रता का अभाव देख कर उसे ऊँचा स्थान नही देते। रवीन्द्र नाथ टैगोर को भी वे विश्व के द्वितीय कोटि के कवियों की श्रेणी में स्वीकारते है।

ये प्रगतिशील कवियो या अन्य सामाजिक विचारधारा के आलोचको की भाँति विषय की महत्ता स्वीकारते हैं। निश्चय ही महान वस्तु उच्च कोटि की संवेदना जगा सकती है। वुद्ध का महाभिनिष्क्रमण और सिगरेट का कश दोनों समान कोटि की अनुभूति नहीं जगा सकते। किन्तु विषय की महानता से ही महान कला की सृष्टि नहीं होती, इस विषय से सम्बद्ध छवियों और मर्म-चित्रों को आपस में पिरोने की आवश्यकता होती है। यह कार्य कल्पना करती है। कल्पना के विविध स्वरूपों पर विचार करते हुए लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि कल्पना का सर्वोत्तम उपयोग अनुभव-जगत से ली गयी वस्तुतः मार्मिक छवियो के मार्मिक संगठन में प्रवृत्त होने में है।

'कलागत सौन्दर्य और महत्ता' में लेखक ने सौन्दर्य और महत्ता के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार किया है। एस० एलेक्जेण्डर कला के सौन्दय और महत्ता को दो चीजें मानता है। उसके अनुसार सौन्दर्य का अधिष्ठान

कला-विशेष का माध्यम होता है जब कि महत्ता विषय-वस्तु पर निर्भर करती है। डा० देवराज के शब्दो में सौन्दर्य यदि काव्य का गुण है तो वह शब्दबद्ध अनुभूति का गुण हो सकता है न कि भाषा या माध्यम का। यह भी कहा जा सकता है कि शब्दो के सौन्दर्य का कारण उनसे बँधी हुई अथवा सांकेतिक वस्तुगत छवियाँ ही हो सकती हैं। 'विभिन्न महत्ता वाली कृतियो का सौन्दर्य समान होता है।' एलेक्जेण्डर के इस मत का खण्डन करते हुए लेखक कहता है कि विषयगत महत्ता का प्रभाव रचना के सौन्दर्य पर भी पड़ता है।

डा० देवराज ने साहित्य-सम्बन्धी और भी बहुत-से प्रश्न उठाये है किन्तु उनकी दृष्टि समझने के लिए इतनी चर्चा पर्याप्त है। कहा गया है कि देवराज में आचार्य शुक्ल के बहुत-से प्रभाव स्वस्थ रूप मे वर्तमान है किन्तु इतना अवश्य कहना पडेगा कि वे शुक्लजी की रसग्राहिता नही पा सके। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि शुक्लजी की रसग्राहिता इतनी चरमकोटि को पहुँची हुई थी कि उसके स्तर तक पहुँचना सबके लिए सम्भव नहीं। जो भी हो, इस रसग्राहिता के अभाव में डा० देवराज की व्यावहारिक आलोचनाएँ कभी-कभी नीरस और एकांगी हो उठी है। छायावाद इनकी व्यावहारिक समीक्षा का मुख्य क्षेत्र है। डा० साहब में सूझ-बूझ और विश्लेषण-शक्ति अच्छी है किन्तु रसग्राहिता के अभाव में इन्होने बडी निर्ममता से छायावाद को दोषों से भरा सिद्ध किया। 'छायावाद का पतन' में लेखक द्वारा प्रस्तुत किया गया तथ्यो का विश्लेषण ठीक हो सकता है किन्तु दोष ही दोष दिखाने से कोई आलोचना साहित्यिक तो नहीं कही जा सकती। 'पं० रामचन्द्र शुक्ल एक मूल्यांकन' निबन्ध में आचार्य शुक्ल की सीमाओं की ओर निर्देश किया गया है किन्तु उनकी उपलब्धियो के मार्मिक विश्लेषण के कारण आलोचना एकांगी नही बन सकी है। जैनेन्द्र और दिनकर पर लिखी गयी इनकी आलोचनाएँ काफी संतुलित है। 'आधुनिक समीक्षा' में इनके कई महत्वपूर्ण समीक्षात्मक निबन्ध दिखाई पडे जिनमें लेखक ने कई कवियो या कृतियो का बौद्धिक विश्लेषण किया है। इन व्यावहारिक आलोचनाओं मे कहीं-कहीं ये अपने सिद्धान्तो के विरुद्ध मत प्रतिपादित कर बैठे है जैसे उन्होंने छायावादी कवियों की तुलना में बिहारी को ला खडा किया है और यह माना है कि 'बिहारी सतसई' में जो कलात्मक सौष्ठव की पूर्णता है वह हिन्दी साहित्य में बहुत कम है। सौन्दर्य को विषय और अनुभूति पर आधारित मानने वाले डा० देवराज ने जैसे यहाँ अभिव्यक्तिमूलक सौन्दर्य को सौन्दर्य मान लिया है। लगता है मौलिकता के चक्कर में कभी-कभी ये चौंकाने

वाली बातें कह जाते है। कुल मिला कर देवराज में आलोचना-शक्ति के विकास की अपार सम्भावनाएँ है।

डा० प्रभाकर माचवे और पं० नलिन विलोचन शर्मा

समीक्षक के लिए पांडित्य आवश्यक है किन्तु वही सभी कुछ नही है। पांडित्य के अतिरिक्त नूतन विश्लेषण-शक्ति, एक दृष्टि और रसज्ञता का होना अति आवश्यक है। दृष्टि के अभाव में आलोचक अपने पांडित्य का दुरुपयोग करता है। वह अपनी बहुज्ञता बिना किसी प्रयोजन के प्रदर्शित करता चलता है। ऐसी अवस्था में सारा पांडित्य और प्रसारगामी ज्ञान लेखक की दृष्टि से विद्ध न हो कर यहाँ-वहाँ बिखर कर अलग-अलग इकाइयो के रूप में स्थित रह जाता है। ऐसे समीक्षक पग-पग पर अनेक भाषाओं के विद्वानो के उद्धरण पेश कर अपने बहु साहित्य-ज्ञान से पाठकों को आतंकित करना चाहते है।

डा० माचवे और श्री नलिनजी में बहुत दूर तक इस प्रवृत्ति के दर्शन होते है। माचवेजी के निबन्धों से ज्ञात होता है कि इन्हें बहुत-सी भाषाओं और उनके साहित्यो का ज्ञान है। साहित्येतर विषयों का भी इनका अध्ययन अच्छा है। किन्तु लगता है कि ये अपनी आलोचनाओं में अपने अत्यन्त प्रसारगामी ज्ञान का सदुपयोग नहीं कर पाते। इसका मूल कारण यह है कि डा० माचवे की अपनी कोई साहित्यिक मान्यता नहीं है, यदि है तो इनके निबन्धो द्वारा स्पष्ट नहीं है। यदि कहीं-कहीं उसका कुछ स्वरूप उभरता भी है तो अन्यत्र उसका निर्वाह नही हो पाता। इन्होने एक स्थान पर स्पष्ट किया है कि ये द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास रखते है किन्तु यह विश्वास इनकी आलोचनाओ में कहीं व्यंजित नहीं है। जब ये कोई साहित्यिक प्रश्न उठाते हैं तो अपनी किसी साहित्यिक मान्यता के अभाव में कोई निष्कर्ष नही दे पाते। ये उस प्रश्न के पक्ष-विपक्ष में उठाये गये अनेक आलोचकों और विचारकों के मतों को उन्ही की भाषा में उठा कर रख देते है। इसीलिए ये उच्च कोटि के समीक्षक की सम्भावनाएँ ले कर भी उच्च कोटि के समीक्षक नहीं हो सके।

डा० माचवे की अपनी विशेषताएँ भी है। इनके उद्धरणो के सम्बन्ध में एक बात ज्ञातव्य है कि ये पिटे-पिटाये, सामान्य पाठकों से सुपरिचित उद्धरण कभी भी प्रस्तुत नहीं करते। ये चुन-चुन कर ऐसे उद्धरण लाते है जो हिन्दी पाठकों को आतंकित करने के साथ ही साथ कुछ नया मसाला देते है, कुछ नया पढ़ने को प्रेरित करते है। ये पिष्टपेषित न हो कर ताजा होते है।

माचवेजी कभी-कभी बड़ा ही मौलिक प्रश्न उठाते है। प्रश्न उठाते भर है, उन पर अपना विचार या समाधान नहीं दे पाते है। जहाँ माचवेजी इन नये प्रश्नों के सन्दर्भ मे अनेक विचारको के विचारो के साथ अपना मत भी देते है और अपने दृष्टिकोण के प्रति आस्था बनाये रखते है वहाँ आलोचना का बडा ऊँचा स्तर स्थापित कर जाते है।

माचवेजी के निबन्धों में यद्यपि कोई एक समन्वित दृष्टिकोण या साहित्यिक मान्यता उपलब्ध नहीं है किन्तु खड रूप मे उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने साहित्यिक विचार व्यक्त किये है। 'संतुलन' में इनके सैद्धान्तिक निबंध संगृहीत हैं।

'व्यक्ति और वाङ्मय' तथा 'समीक्षा की समीक्षा' में इनकी व्यावहारिक आलोचना का रूप देखा जा सकता है। माचवेजी ने साहित्येतर विषयों पर भी निबन्ध लिखे है तथा अन्य भारतीय भाषाओ के उत्कृष्ट कवियो पर विचार किया है। इस प्रकार इन्होने हिन्दी साहित्य के परीक्षण के लिए व्यापक भूमि तैयार की है।

श्री नलिनजी की समीक्षाओ में भी एक निश्चित दृष्टिकोण का अभाव है। यद्यपि इनके निबंध-संग्रह का नाम 'दृष्टिकोण' है किन्तु उससे इनका कोई दृष्टि-कोण स्पष्ट नही होता। माचवेजी की तरह ये भी उद्धरणो का अधिकता से उपयोग करते है। इनके उद्धरण विदेशी भाषाओं से लिये गये है। साहित्येतर विषयों में इनकी भी रुचि रही है।

प्रतिपाद्य विषय पर कुछ न कह कर या बहुत कम कह कर अपनी कोई शृंखलित विचार-सरणि न प्रस्तुत कर उद्धरणो की भाषा में सभी कुछ कह जाने का अच्छा नमूना इनके निबन्धो में मिलेगा। लेखक के 'यथार्थवाद आधुनिक हिन्दी कविता' शीर्षक निबंध में दो बातें जानकीवल्लभ शास्त्री की भाषा की भूमिका लिखी गयी है किन्तु पुस्तक के सम्बन्ध में कितना कहा गया है पढ़ने वाले जान सकते है।

ये भी माचवेजी की तरह कुछ नये प्रश्न उठाते हैं किन्तु उनके बारे में अन्य विद्वानो की धारणाएँ संचित कर हट जाते है। साहित्यिक सूचनाएँ एकत्र करने की प्रवृत्ति विशेष रूप से इनमें लक्षित होती है। इतना होने पर भी इनमें भी चर्वितचर्वण का बासीपन नही रहता। नये ढंग से उन बातो या प्रश्नो को प्रस्तुत करने के नाते इनके कथन में ताजगी रहती है।

नूतन समीक्षा-सिद्धान्तों की सशक्त स्थापनाएँ ये नहीं कर सके है फिर भी कृतियो के मूल्यांकन की बहुत अच्छी क्षमता इनमें है। 'प्रेमचन्द और

जैनेन्द्र', 'तुर्गनेव तथा दास्तावस्की' निबन्ध इनकी समीक्षात्मक क्षमता के परिचायक हैं। इनमें लेखक ने कला की भीतरी-बाहरी प्रेरणाओ और जीवन-तत्वो को परख कर किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से अपने को मुक्त रखा है।

श्री कृष्णशंकर शुक्ल, डा० केसरी नारायण शुक्ल और डा० सत्येन्द्र की महत्ता उनके साहित्य-सिद्धान्तों के विवेचन के नाते नही वरन् कृतियो की व्याख्यात्मक आलोचना के नाते है। इन सारे आलोचको की दृष्टि सामाजिक है, साहित्य में सामाजिक तत्वो को अभिव्यक्त करने के ये पक्षपाती है। श्री कृष्ण शंकर शुक्ल को 'कविवर रत्नाकर' और 'केशव की काव्य कला', डा० केसरी नारायण शुक्ल की 'आधुनिक काव्यधारा तथा आधुनिक काव्यधारा के स्रोत' और डा० सत्येन्द्र की 'गुप्तजी की कला', 'प्रेमचन्द और उनकी कहानी-कला', 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन', 'हिन्दी एकांकी', 'साहित्य की झाँकी' समीक्षा-पुस्तके है।

४

विविध

हिन्दी आलोचना की मुख्य प्रवृत्तियो और कार्यों के अतिरिक्त कुछ कार्य ऐसे भी हो रहे है जिन्हे शुद्ध समीक्षा के भीतर परिगणित करना किसी प्रकार समीचीन नहीं जान पड़ता। ये कार्य शुद्ध गवेषणात्मक है, इनसे न तो किसी साहित्यिक सिद्धांत की स्थापना या विवेचन होता है और न किसी कृति का मूल्यांकन। इनमें किसी प्राचीन वृत्ति या प्रवृत्ति या साहित्य के क्षेत्र में आने वाले किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध ऐतिहासिक तथ्यों की छान-बीन तथा उनका निरूपण होता है। यह कार्य शुद्ध गवेषणात्मक होता है, इसमें कर्त्ता के व्यक्तित्व और साहित्यिक दृष्टिकोण की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी ऐतिहासिक तथ्यो के अनुसंधान के आधार पर उनकी सामान्य प्रवृत्तियो का वर्गीकरण करने की।

यहाँ एक बात स्पष्ट समझ लेनी है, वह यह कि ऐतिहासिक आलोचना और शुद्ध गवेषणा मे अन्तर है। वास्तव में ऐतिहासिक आलोचना शेष आलोचना से भिन्न कोई चीज नही है। पुराने कवियो की कृतियो के मूल्यांकन का स्वरूप नये कवियो की कृतियो के मूल्याकन के स्वरूप से तत्वत. भिन्न नहीं होता। आलोचक की दृष्टि दोनो कृतिकारों के मूल्यांकन के समय उनके काल और समाज के परिवेश को देखती है अत: काल भेद से प्राचीन कृतियो की आलोचना को ऐतिहासिक आलोचना का नाम देना तर्कसगत नहीं प्रतीत होता। खैर, नाम चल पड़ा है तो चलने दीजिए। मुझे कहना यहाँ यह है कि जब प्राचीन कवियो की साहित्यक व्याख्या और परीक्षा होती है तो उसे आलोचना (ऐतिहासिक आलोचना कह लीजिए) कहते है और जब केवल असाहित्यिक तथ्यो की छानबीन होती है तो उसे शुद्ध गवेषणा कहते है। आज साहित्य में जो शोध-कार्य चल रहा है वह दोनो प्रकार का है अर्थात कुछ शोध-कार्य मुख्यतः साहित्यिक समीक्षा से सम्बन्ध रखते है यों उनमे असाहित्यिक तथ्यो की भी छानबीन होती है। कुछ ऐसे है जो केवल असाहित्यिक तथ्यो की खोजबीन करते है यानी अमुक कवि कहाँ पैदा हुआ था, कब पैदा हुआ था, उसके माँ-बाप का क्या नाम था, उसका संप्रदाय कौन-सा था, उसके गुरु कौन-से थे, उसकी पहली कृति कब लिखी गयी आदि

आदि। चूँकि इन शोध-कार्यों का भी प्रभाव परोक्ष रूप से साहित्य-समीक्षा पर पड़ता है अतः इन पर विचार कर लेना अप्रासंगिक नही होगा।

ऐतिहासिक समीक्षा के भीतर पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० नन्द दुलारे वाजपेयी, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, डा० राम विलास शर्मा इत्यादि की कुछ आलोचनाओं को ले सकते हैं। इन आलोचनाओं का मुख्य लक्ष्य साहित्यिक विवेचन और परीक्षण ही रहा है। इसी विवेचन और परीक्षण को परिपूर्ण बनाने के लिए इन आलोचकों ने सम्बद्ध कवियो की साम्प्रदायिक, दार्शनिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक भित्तियो और प्रतीतियों की मीमांसा की है।

शुद्ध गवेषणात्मक कार्यों के भी दो स्तर दिखाई पड़ते है। कुछ तो ऐसे हैं जो शुद्ध गवेषणापरक हो कर भी साथ-साथ काव्यात्मक विशेषताओ पर कुछ कहते चलते है और कुछ ऐसे है जो मात्र तथ्य-संग्रह में जुटे रहते है।

भारतीय साहित्य का मध्यकाल अधकाराच्छन्न है। इसीलिए आधुनिक काल में इस काल के इतिहास की खोज करने की ओर अनेक विद्वान प्रवृत्त हुए है। हिन्दी साहित्य के इतिहास इसी दिशा में किये जाने वाले साहित्यिक प्रयास है। ये इतिहास भी दो तरह के दिखाई देते है। कुछ ऐसे है जिनमें कवियो के जीवनवृत्त और उनकी पुस्तकों को कोरी खोज की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कुछ ऐसे है जिनमें कृतियों और जीवनवृत्त की प्रामाणिकता सिद्ध करने के साथ ही साथ विभिन्न युगो की सामाजिक स्थितियो और उनसे फूटने वाले साहित्यो की सामान्य प्रवृत्तियो की मार्मिक विवेचना मिलती है तथा विभिन्न कवियो की व्यक्तिगत छवियो की परीक्षा भी दिखाई पडती है। आचार्य शुक्ल के पहले लिखे गये 'इतिहासो' में पहली प्रवृत्ति दिखाई पडती है। इनमें इतिहास लेखन का कोई पुष्ट स्वरूप लक्षित नही होता। 'इस्त्वार दला लितेरात्थूर ऐंदूई एँ ऐंदुस्तानी' (गार्सें द तासी) 'भाषा-काव्य सग्रह' (महेश दत्त शुक्ल), 'शिवसिंह सरोज' (शिवसिंह सरोज), 'मार्डर्न वरनाक्यूलर लिट्रेचर आव् हिन्दोस्तान' (ग्रियर्सन), 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' (श्यामसुन्दर दास), 'मिश्रबन्धु विनोद' (मिश्रबन्धु) इत्यादि ग्रन्थो की गणना पहली प्रवृत्ति के इतिहासो में हो सकती है। आचार्य शुक्ल ने वैज्ञानिक ढग से इतिहास-लेखन की प्रणाली का प्रारंभ किया। यहाँ से शुरू होने वाले इतिहासो या खड-इतिहासो में युगीन प्रवृत्तियो का विश्लेषण तथा कृतियो का मूल्याकन दिखाई पड़ता है। इनमें 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (पं० रामचन्द्र शुक्ल), 'हिन्दी साहित्य' (डा० श्यामसुन्दर दास),

'आदिकाल', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य' (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी), 'विहारी', 'आनन्द घन', 'भूषण' (पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) इत्यादि प्रमुख ऐतिहासिक चेष्टाओ की दृष्टियो और उपलब्धियो पर विचार हो चुका है। इनके अतिरिक्त और भी महत्वशाली पुस्तके इस श्रेणी में देखी जा सकती है, जैसे—'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का इतिहास' (पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'), 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (डा० सूर्यकान्त), 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' (प० कृष्णशकर शुक्ल), 'साहित्य की झाँकी' (डा० सत्येन्द्र), 'खडी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' (श्री व्रजरत्न दास), 'सन्त साहित्य' (भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (डा० श्रीकृष्ण लाल)।

ऊपर जिन साहित्य-ग्रन्थो की चर्चा हुई है उनका महत्व शोध और समीक्षा दोनों दृष्टियो से है किन्तु कुछ कृतियाँ ऐसी भी है जिनका महत्व गहन शोध करने के कारण ही स्वीकारा जायगा। 'पृथ्वीराज रासो' या आदिकाल में लिखी गयी अन्य सदिग्ध पुस्तको की प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयास चल रहा है। सन्तो, योगियो, सिद्धो, नाथो, भक्तिकाल और रीतिकाल के छूटे-छिटके कवियो पर निरन्तर गवेषणा हो रही है। गवेषणा के क्षेत्र में महा-पण्डित राहुल सांकृत्यायन की 'हिन्दी काव्य धारा' डा० दीनदयाल गुप्त की 'अष्टछाप के कवि और वल्लभ संप्रदाय' पं० वलदेव उपाध्याय की 'भागवत संप्रदाय', डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल की 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' और 'योग प्रवाह', परशुराम चतुर्वेदी की 'उत्तरी भारत की सत परम्परा', 'कबीर साहित्य की परख', 'हिन्दी काव्यधारा मे प्रेम-प्रवाह', 'वैष्णव धर्म', 'भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ' महत्वपूर्ण पुस्तके है। वास्तव में इन पुस्तको का महत्व नवीन सामग्रियो की खोज और उनके आधार पर अभिप्रेत विषय के प्रवृत्ति-निरूपण में ही है।

प्रमुख धाराओ के प्रमुख समीक्षको का ही विश्लेषण करना मेरा ध्येय रहा है। किन्तु इन प्रमुख आलोचकों और शोधकर्त्ताओं के अतिरिक्त बहुत-से लोगों ने अपनी विशेष-विशेष कृतियों से हिन्दी आलोचना को समृद्ध किया है। इस प्रकार हिन्दी आलोचना विपुल और गम्भीर होती जा रही है। इन शेष आलोचको में से कुछ ऐसे है जो मूलतः कृतिकार है किन्तु अपने चिन्तन-मनन को या किसी कृति या वाद के प्रति अपने दृष्टिकोण को,

विश्लेषण को किसी पुस्तक में लिपिबद्ध कर दिया है। ये आलोचक के रूप में विख्यात इसलिए नहीं है कि इनका दूसरा रूप (सर्जक रूप) प्रधान है और प्राय' आलोचना लिखते भी नही, किन्तु इनकी पुस्तक-विशेष वाद-विशेष, कृति-विशेष या सिद्धान्त-विशेष को समझने में बडी सहायक सिद्ध होती है।

आजकल विश्वविद्यालयों के तत्वावधान में बहुतेरे विषयो पर शोध-ग्रन्थ लिखे जा रहे है। इन शोध-ग्रन्थो के रचयिता कोई बडे या श्रेष्ठ आलोचक नही होते किन्तु लगन से किया गया ऐसा शोध-कार्य निश्चय ही समीक्षा के क्षेत्र मे योगदान देता है। हाँ, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि बहुतेरे शोध-कार्यों का या तो विषय इतना निकम्मा और हलका होता है या वे इतने सतही ढंग से लिखे गये होते है कि वे आलोचना के नाम पर या शुद्ध गवेषणा के नाम पर मजाक हो सिद्ध होते हैं। इस प्रकार की उत्तम पुस्तको की एक लम्बी सूचो बनायी जा सकती है या भिन्न-भिन्न प्रकाशनों से प्रकाशित होने वाली सूचो-पत्रिकाओं में देखी जा सकती है।

५

उपसंहार

आलोचना के विभिन्न क्षेत्रो मे होने वाले प्रयासो की विवेचना की गयी। सभी वादो या प्रवृत्तियो के अन्तर्गत लिखने वाले आलोचक आज भी अपने-अपने संस्कार और शक्ति के साथ सक्रिय है किन्तु यह सत्य है कि हिन्दी के रचनात्मक साहित्य मे जो तीव्र गति इधर आयी है उसे पकडने मे ये समर्थ नही रहे और कुछ दूर तक इच्छुक भी नहीं। वर्तमान साहित्य की नवीनतम दिशाओ का मूल्याकन करने के लिए जिन नये विश्वासो और दृष्टियों की आवश्यकता होती है उनका इनमें अभाव है। अत कुछ नये आलोचक इस दायित्व को वहन करते हुए वडी शक्ति के साथ आगे वढ रहे है। नये रचनात्मक साहित्य मे क्या कविता, क्या कहानी और क्या उपन्यास— सभी में भावो, मूल्यो और शिल्प-प्रयोग की दृष्टि से नवीनता तो है ही पर साथ-ही-साथ विपुल वैविध्य भी है। विशेषतया नयी कविता में यह सत्य अधिक स्पष्टता से देखा जा सकता है। इस वैविध्य के आधार पर आलोचना-दृष्टियो में भी एकरूपता नहीं है, यदि कोई समानता है तो इतनी ही कि सभी नयें साहित्य के नयेपन को स्वीकार कर उसे स्वस्थ रूप देने के लिए सचेष्ट है।

यहाँ नवीनतम आलोचना पर विचार करने के पूर्व सक्षेप में नयी कविता (या नये रचनात्मक साहित्य) के सर्जको के विश्वासो तथा इस क्षेत्र में हो रहे प्रयोगो को ओर सकेत करना समीचीन होगा। नये सर्जना में कार्य करने वाले लोग तीन तरफ से आये है। कुछ ऐसे है जो शुरू के जीवन में प्रगतिवादी शक्ति और सीमाओ को ले कर सर्जन कर चुके है किन्तु या तो स्वभाव से जागरूक होने के नाते या नये विकासक्रम से प्रभावित होने के नाते प्रगतिवाद की शक्ति को स्वीकारते हुए भी उसी के घेरे में वन्दी नही वने रहे। प्रगतिवाद अपनी सारी सामाजिक शक्तियो और सहज प्रवाहमयता के वावजूद कुछ घेरे वना बैठा। उसने लघुता की ओर दृष्टिपात तो किया किन्तु उसका लघु मानव वैविध्यमय व्यक्तित्व से सम्पन्न मानव नहीं रहा वल्कि सामूहिकता की यात्रिक इकाई यानी प्रतीक मानव रहा। इस प्रकार यह प्रतीक मानव जीवन के उन्हीं सत्यों को छू सका जो प्रगतिवादी दृष्टिकोण से दिखाई पड़ने वाले क्षेत्रों में अँट सके।

दूसरी दिशा प्रयोगवाद की है जहाँ से कई सर्जक और आलोचक आये। प्रयोगवाद यो तो कोई वाद नही है कि उसका कोई जीवन-दर्शन हो किन्तु

फ्रायडवाद से प्रभावित होने के नाते तथा व्यक्तिगत संवेदनाओ पर विशेष वल देने के कारण वह लघु क्षणों, उपेक्षित वासनाओं और हृदय की छोटी-छोटी अवस्थितियो और विचार विन्दुओ को वड़ी तीव्रता से आलोकित कर सका। किन्तु व्यापक समाज में उपेक्षित लोगो और उनकी संवेदनाओ को अपनी सीमा मे नही भर सका। नयी कविता ने दृष्टि-विस्तार किया। उसकी दृष्टि मे सभी आये—अन्तर के सत्य, वाहर के सत्य। अन्तर की उपेक्षित वातें और वाहर के उपेक्षित तथाकथित छोटे लोग। लघु मानव या लघु मनस्थितियाँ उपेक्षणीय नहीं है, उन्हे व्यापक संदर्भ में देखने की आवश्यकता है। इस प्रकार नयी कविता या नये साहित्य ने मनुष्य को उसके समग्र परिवेश में देखना चाहा। नयी कविता ने अपने को तमाम वन्धनों से मुक्त कर मानवतावादी दृष्टि से ससार को देखा। इसका मानवतावाद मिथ्या कल्पनाओ पर आधारित नहीं है वल्कि यथार्थ के ठोस धरातल पर अवलम्बित है। इसमें अनुभूति की सघनता और वौद्धिक विश्लेषण की क्षमता दोनो है। नये साहित्य में यथार्थ की तीखी चेतना है।

नया साहित्य कथ्य मे यह उन्मुक्त विस्तार ले कर आया, साथ ही साथ उसका उद्देश्य भी जीवन को समझने की चेतना से सम्बद्ध हुआ। साहित्य का उद्देश्य केवल रस या आनन्द प्रदान करना नही है वरन् जीवन की जटिलताओं को समझना और उनके संदर्भ में उगे नये मानव-मूल्यो को स्थापना करना है। इस प्रकार सृजन में आनन्द का स्फुरण और उत्तरदायित्व-वोध दोनो जुडे हुए है।

नया आलोचक नये साहित्य की विशेषताओ को दृष्टि विन्दु में रख कर आलोचना को नयी दिशाएँ दे रहा है। इन आलोचको में से अधिकांश सृजक है अत वे मुख्यतया अपनी आलोचनाओ में सर्जन की प्रक्रिया पर विचार कर रहे है। वास्तव में सर्जक और परिवेश का गहन सम्बन्ध है। परिवेश (अतीत, वर्तमान, समाज, प्रकृत्ति) विभिन्न रूपो में सर्जक की कृतियो में प्रतिविम्वित होता है। किन्तु उसके प्रतिविम्वित होने को प्रक्रिया वड़ी जटिल होती है। सर्जक मशीन तो होता नहीं कि वह परिवेश को ज्यो का त्यो उगल दे। उसका अपना व्यक्तित्व वड़े महत्व का होता है। उसके व्यक्तित्व में घुल-मिल कर ही परिवेश व्यक्त हो सकता है। उसके व्यक्तित्व में घुलने-मिलने के कारण परिवेश उसी स्थूल रूप में नही रह जाता जिस रूप में वह दृष्टिगोचर हो रहा है। व्यक्तित्व के सूक्ष्म तन्तुओं से वुन-वुन कर वह अनेक परिवर्तित रूपो में प्रतिफलित होता है। अत. सर्जक के व्यक्तित्व को

समझना किसी कृति को समझने का मूल आधार है। यह व्यक्तित्व कोई स्थिर चीज नहीं है। वह भी अपने परिवेश से प्रभावित हो कर विकसित होता रहता है। जिसका व्यक्तित्व जितना ही विकासशील और समाज के सत्यों को अपने में समाहित कर लेने में समर्थ होगा उसका साहित्य उतना ही अधिक प्राणवान होगा। डा० नामवर सिह ने 'इतिहास और आलोचना' के एक निवन्ध 'समाज और साहित्य के बीच की कडी ' लेखक का व्यक्तित्व' में इस प्रश्न को वडी वारीकी से उठाया है।

साहित्यकार के व्यक्तित्व से सम्वद्ध कई प्रश्न उठाये गये है। उनके मूल में है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व को कितनी स्वतन्त्रता और कितना दायित्व अपेक्षित है। क्या उसका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है? या वह केवल दायित्व ढोने के लिए है? स्वतन्त्रता और दायित्व का वास्तविक अर्थ क्या है, उनका पारस्परिक सम्वन्ध क्या है? किस सीमा तक ये साहित्यकार के व्यक्तित्व में समा कर उसके साहित्य की शक्ति की रक्षा और विकास कर सकते है? इत्यादि प्रश्न नये विचारक के सामने आये। 'आलोचना' त्रैमासिक पत्रिका में इस प्रश्न पर काफी चर्चाएँ हुई। 'राज्य और साहित्यकार' प्रश्न भी इसी संदर्भ में लिया जा सकता है। हिन्दी की सारी पत्र-पत्रिकाओ ने इस विचार-विनिमय में भाग लिया। डा० धर्मवीर भारती का धुरीहीनता वाला वहुचर्चित लेख भी इसी विचार-विनिमय के अवसर पर लिखा गया था जिसमें साहित्यकार के दुहरे व्यक्तित्व पर प्रहार किया गया था। व्यक्तित्व से ही सम्वद्ध डा० भारती का एक महत्त्वपूर्ण निवन्ध है 'साहित्य की नयी मर्यादा'।

वास्तव में नयी समीक्षा की सबसे वड़ी उपलब्धि इसी दिशा में स्वीकार करनी पडेगी कि वह साहित्य-सृजन की मूल प्रक्रियाओ पर विचार कर रही है। रचना की मूल प्रक्रिया क्या होती है इसका विश्लेषण कर निश्चय ही नयी समीक्षा साहित्य के अधिक बुनियादी सत्यो तक पहुँच सकती है। साहित्य-रस का आस्वाद तो हम लेते है, उसके विभिन्न उपकरणों का नाम भी जानते है किन्तु वास्तव में यह रस या ये मर्मछवियाँ किन-किन स्रोतो से फूटती है इसका वौद्धिक विश्लेपण करना अधिक आवश्यक है। नयी समीक्षा इस दायित्व को सँभाल रही है।

साहित्य के प्रतिमान आज वहुत वदल गये हैं। क्या दृष्टि, क्या कथ्य, क्या शिल्प सभी क्षेत्रों में नये साहित्य ने अपने को वहुत वदला हुआ पाया है विशेपतया कविता ने। ऊपर कुछ प्रवृत्तियों का संकेत किया गया है। नयी समीक्षा ने वदली हुई प्रवृत्तियों के आधार नये प्रतिमान स्थिर किये है

नये साहित्य का मूल्याकन करने के लिए। इन प्रतिमानो के अन्तर्गत साहित्य का अनुभूति पक्ष, शिल्प पक्ष तथा अनुभूतियो और दृष्टियो को प्रभावित करने वाले नये मानव-मूल्य, नवीन जीवन-सत्य, नवीन नैतिक मान्यताएँ सभी आती है और मुखौटों वाले जीवनादर्श तथा मिथ्या महत का विरोध भी इन्ही मे सम्मिलित है। 'लघु मानव' की चर्चा इस सदर्भ मे उल्लेखनीय चर्चा है। लक्ष्मीकात वर्मा ने 'नयी कविता के प्रतिमान' में लघु मानव की बड़ी विशद व्याख्या की है जो काफी चर्चा का विषय रहा। आज लघु मानव ही सत्य है अपने समग्र परिवेश में। पूर्ववर्ती साहित्य में गृहीत महत् चरित्र की अनिवार्यता चुक गयी है इसीलिए नायक का विघटन हो रहा है और लघु मानव स्थापित हो रहा है। लघु क्षण या क्षणों के सत्य को पकड़ नये काव्य और कथा-साहित्य में है। बडी घटनाओ, बड़े प्रसंगो के चामत्कारिक आयोजनों में नये साहित्य को दिलचस्पी नही है, वह तो क्षणों को उनकी अनुभूति की तीव्रता में पकड़ लेना चाहता है। नयी समीक्षा में इन प्रश्नो की चर्चा दीखती है। 'मानव मूल्य और साहित्य' डा० भारती के इस कोटि के निबन्धों का संग्रह है।

नये साहित्य विशेपतया नयी कविता के शिल्प में जो नवीनता आयी है उसकी भी चर्चा प्राय. हुई है किन्तु अपेक्षाकृत कम हुई है। डा० जगदीश गुप्त की 'अर्थ की लय' निबन्ध इस संदर्भ मे उल्लेख्य है। नयी कविता के ऊपर आरोपित समस्त बाहरी आवरणो को फेंक कर शुद्ध कविता कविता रहना चाहती है। उसने छन्द को भी उतार कर रख दिया। वह शुद्ध गद्य हो गयी किन्तु गद्य होकर भी वह गद्य से भिन्न रही क्योकि उसमें एक अन्तर्लय है अर्थात अर्थ की लय। डा० जगदीश ने अर्थ की लय की व्याख्या उक्त निबंध में की है। डा० नामवर सिंह ने 'छन्द मे कुछ नये प्रयोग', 'नयी कविता को भापा', 'नयी कविता में लोकभापा का प्रभाव' निबंधो में नयी कविता के शिल्प पक्ष की मार्मिक व्याख्या की। वास्तव में अभी नयी कविता या नयी कहानी में उभरने वाले नये तत्वो का विशद विवेचन होना बाकी है। यो इस दिशा में जो प्रयास हुए है उनसे यह ज्ञात होता है कि ये समीक्षक शिल्प को अनुभूति के साथ गहन भाव से जुड़ा हुआ मानते है अर्थात शिल्प किसी कलाकार की अभिव्यक्ति की अनिवार्यता है, वह अनुभूति से असंबद्ध कहीं ऊपर से जोड़ा हुआ नही है। डा० नामवर सिंह ने कहीं लिखा है कि जो लोग प्रगतिवादी अनुभूति और प्रयोगवादी शिल्प को जोड़ना चाहते है वे वास्तव मे अनुभूति और शिल्प के पारस्परिक सम्बन्धों को नहीं पहचानते।

शिल्प अनुभूति का अनिवार्य अंग हो कर भी कलाकार द्वारा सजग परीक्षण, निरीक्षण और परिमार्जन की आवश्यकता रखता है। नये साहित्य में अनुभूति की सापेक्षता में शिल्प सम्बन्धी नये प्रयोगो, नये बिम्बो-प्रतीको की खोजो की अनिवार्यता पर बल दिया गया है।

'साहित्य और इतिहास' भी आज की चर्चा का एक मुख्य विषय रहा है। अभी अभी प्रयाग में एक गोष्ठी आयोजित हुई थी जिसमें आधुनिकता पर बहस करते हुए कुछ नये विचारकों ने आधुनिकता को समझने के लिए इतिहास को न केवल अनावश्यक माना बल्कि अवरोधक भी माना। किन्तु उत्साह में आ कर ऐसे चौकाने वाले फैसले देने वाले उगते हुए मस्तिष्को की बात को गम्भीरता से कहाँ तक माना जाय? यह भी एक प्रश्न है। किन्तु उस गोष्ठी मे समाज की विकासमान धारा में विश्वास करने वाले विजयदेव नारायण साही जैसे नये विचारक भी थे जिन्होने इतिहास को आधुनिकता की समझ के लिए आवश्यक माना। बात असल में यह है कि यदि हम साहित्य को परिवेश से प्रभावित मानते है तो उस परिवेश के विकासमान स्वरूप को देखना होगा। ये सारी साहित्यिक परिणतियाँ एकाएक वर्तमान के आकाश से तो टूटती नही, उनके पीछे वर्षों की साधना और संस्कार होते है, उन्हें भी समझना होता है। हाँ, इतिहास के ज्वलंत सत्यो को वर्तमान की सृष्टि के लिए उन्मुख करना ही इतिहास को ठीक से समझना है। 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' प्रश्न इसी सिलसिले में खडा होता है। भारतीय हिन्दी परिषद के वार्षिक अधिवेशन (सन् १९६१) की एक गोष्ठी में साहित्य के इतिहास-दर्शन को ले कर विचार-विनिमय हुआ था। क्या इतिहास के विभिन्न कालो के तथ्यो को उनके वास्तविक रूप में प्रस्तुत कर देना ही इतिहास का उद्देश्य है या उसका एक दर्शन होता है जिससे प्रेरित हो कर वह इतिहास की सारी वास्तविकताओ को एक विशेष दृष्टि से देखे और उन्हें सुनियोजित क्रम दे।

आज और भी अनेक साहित्यिक प्रश्न सामने खड़े है जिन पर आलोचको की दृष्टि बार-बार गयी है। नयी कविता में प्रेषणीयता, आंचलिकता और कथा-साहित्य, साहित्य में नैतिक मूल्य, साहित्य और अश्लीलता जैसे विषयो पर निबंध निकलते रहे है, चर्चाएँ होती रही है। नयी समीक्षा में विभिन्न विचारों के लोग कार्य कर रहे है। पिछले अध्यायो में विचारित समीक्षक (शिवदान सिह चौहान, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, अज्ञेय, रामविलास शर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० देवराज इत्यादि) भी इस चर्चा मे प्राय: भाग लेते रहे है—अपने-अपने ढग से। साथ ही विभिन्न विचारो के नये समीक्षक, जैसे

डा० नामवर सिंह, डा० [illegible] डा० रघुवंश, डा० शंभूनाथ सिंह, विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकान्त वर्मा, डा० जगदीश गुप्त, डा० देवीशंकर अवस्थी इत्यादि अपने-अपने दृष्टिकोण से इन प्रश्नों को समझने-समझाने का प्रयत्न करते रहे है। कृति, कल्पना, नयी कविता, संकेत, निकष, रचना, विविधा इत्यादि पत्रिकाओ और संकलनो ने सम्पादकीय टिप्पणियो या दूसरे लेखकों की टिप्पणियो तथा निवन्धो के माध्यम से इन साहित्यक प्रश्नो की चर्चाएँ आगे वढ़ा कर नवीन चिन्तन को समृद्ध किया है। यह कहा जा सकता है कि इस नये युग मे आचार्य शुक्ल या आचार्य हजारी प्रसाद दिवेदी या पं० नंददुलारे वाजपेयी जैसी बडी प्रतिमा आलोचना के क्षेत्र में अवतरित नहीं हुई। इस प्रकार आज के चिन्तन की उपलब्धि विभिन्न विराट व्यक्तित्वो की नहीं है वरन् सामूहिक प्रयासो की है।

आज की समीक्षा में व्यावहारिक समीक्षा जैसे उपेक्षित ही रह गयी। नयी कविता या नयी कहानी या नये उपन्यास के उभरे हुए नये तत्वो पर वार-वार सैद्धांतिक चर्चाएँ हुई है किन्तु कुछ कविताओ या कहानियों को लेकर उनकी मर्मछवियों के उद्घाटन का कार्य अभी जैसे वाकी है। विशेषतया 'नयी कविता' में नयापन ढँढ़ कर ही या सिद्धान्त-विश्लेषण के अवसर पर उसे स्थान-स्थान पर उद्धृत करके ही संतोष कर लिया जाता है। इस तरह वहुत-से घटिया किस्म के लोग भी विचारको की श्रेणी में दर्ज हो जाते हैं। वास्तव में अव युग आ गया है कि समीक्षक नये साहित्य के नये तत्वो के आलोक में यह परीक्षा करें कि इस साहित्य में साहित्यिक छवि कितनी है। विभिन्न पुस्तको की 'रिव्यू' के अवसर पर ही व्यावहारिक समीक्षा का रूप दिखाई पडा है। किन्तु खेद के साथ कहना पडता है कि ये 'रिव्यूज' कभी ही कभी संतुलित रूप मे आ पाते है, नहीं तो प्राय: नासमझ और गैरजिम्मेदार लोगों द्वारा लिखे जाने के कारण रचना की मूल छवि तक पहुँचने में तो असमर्थ रहते ही है उलटे बहुत ही अभद्र शब्दों में कुछ चलते-फिरते 'रिमार्क' कस देते है। वास्तव में नये साहित्य के क्षेत्र में होने वाले प्रयोगों की साहित्यिक छवियो के उद्घाटन की आवश्यकता है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० नंददुलारे वाजपेयी की रसज्ञता और ग्राहिकाशक्ति की आवश्यकता है। विना इस पक्ष के विकास के आलोचना का नवीन रूप सम्पन्न नहीं हो सकता। श्री अज्ञेय, डा० नामवर सिंह, श्री नेमिचंद जैन, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा इत्यादि ने कुछ पुस्तको और कवियो की समीक्षा करते हुए इस शक्ति के विकास की संभावनाएँ जगायी हैं किन्तु यह शुरूआत मात्र है।